निवेदन

रत्नप्रभाभाषानुवाद सहित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यका [प्रथम अध्याय तकका] प्रथम खण्ड शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीगोपीनाथ कविराजजी एम० ए० ने कृपापूर्वक भूमिका लिखना स्वीकार किया है। भूमिका लिखी जा रही है। इस खण्डकी विषय-सूची भी दूसरी बनेगी। हमें उसको 'अच्युत'के पूर्व अंकके साथ ही ग्राहक महोदयोंकी शुभसन्निधिमें भेज देना चाहिए था, किन्तु कुछ अनिवार्य कारणोंसे हम ऐसा नहीं कर सके। अनुग्राहक ग्राहकोंसे हमारी प्रार्थना है कि 'अच्युत' का जिल्द बँधवाना अभी स्थगित रक्खें। 'अच्युत'के अग्रिम अंकके साथ इस खण्डकी विषयसूची सबकी सेवामें पहुँचनेकी आशा है। तभी जिल्द बँधवानेमें सौकर्य होगा।

दूसरी प्रार्थना यह है कि अच्युतका प्रथम वर्ष अग्रिम मासमें समाप्त हो जायगा। यदि ग्राहक महोदय अभीसे मनिआर्डर द्वारा आगामी वर्षका चन्दा [४||)रू०] भेजनेका अनुग्रह करें, तो वी० पी० के व्यर्थ व्यय और समयकी बचत हो जायगी। जिन महाशयोंने प्रथम वर्ष में ६) रु० चन्दा दिया था, उन्हें इस वर्षके लिए ३) रु० ही भेजना चाहिए, उनका १||) रु० हमारे यहां जमा है।

निवेदक—

व्यवस्थापक।

अच्युत

विषय-सूची

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } मार्गशीर्ष पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ११

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

वेदसारशिवस्तवः—

पशूनां पतिं पापनाशं परेशं गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम् ।
जटाजूटमध्ये स्फुरद्गाङ्गवारिं महादेवमेकं स्मरामि स्मरारिम् ॥ १ ॥
महेशं सुरेशं सुरारातिनाशं विभुं विश्वनाथं विभूत्यङ्गभूषम् ।
विरूपाक्षमिन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रं सदानन्दमीडे प्रभुं पञ्चवक्त्रम् ॥ २ ॥
गिरीशं गणेशं गले नीलवर्णं गवेन्द्राधिरूढं गणातीतरूपम् ।
भवं भास्वरं भस्मना भूषिताङ्गं भवानीकलत्रं भजे पञ्चवक्त्रम् ॥ ३ ॥
शिवाकान्त शम्भो शशाङ्कार्धमौले महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन् ।
त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप ॥ ४ ॥
परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं निरीहं निराकारमोङ्कारवेद्यम् ।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥ ५ ॥
न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायुर्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा ।
न ग्रीष्मो न शीतं न देशो न वेषो न यस्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥ ६ ॥
अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
तुरीयं तमःपारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ ७ ॥
नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्ते नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ॥ ८ ॥
प्रभो शूलपाणे विभो विश्वनाथ महादेव शम्भो महेश त्रिनेत्र ।
शिवाकान्त शान्त स्मरारे पुरारे त्वदन्यो वरेण्यो न मान्यो न गण्यः ॥ ९ ॥
शम्भो महेश करुणामय शूलपाणे गौरीपते पशुपते पशुपाशनाशिन् ।
काशीपते करुणया जगदेतदेकस्त्वं हंसि पासि विदधासि महेश्वरोऽसि ॥१०॥
त्वत्तो जगद्भवति देव भव स्मरारे त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश लिङ्गात्मकं हर चराचरविश्वरूपिन् ॥११॥

—श्रीशंकराचार्यः

भाष्य

वगम्यन्ते। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति। प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५।१।७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनम्, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः, तस्मै बलिहरणम् [बृ० ६।१।१३] इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति। 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

जाना जाता है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्निने वाणी होकर मुखमें प्रवेश किया) इत्यादि श्रुति इन्द्रियोंके अनुग्राहक एवं इन्द्रियोंमें अनुगत देवताओंको दिखलाती है। और प्राणसंवादके वाक्यशेषमें 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं०' (उन प्राणोंने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा) इस प्रकार श्रेष्ठत्व निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास जाना और उनके वचनसे एक एक के उत्क्रमणसे अन्वयव्यतिरेकद्वारा प्राणकी श्रेष्ठत्वप्रतीति और उसके लिए बलि ले जाना इस प्रकारका हमारे समान जो व्यवहार देखा जाता है, वह अधिष्ठाताके व्यपदेशको दृढ़ करता है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेजने देखा) यह भी अपने विकारोंमें अनुगत हुए अन्य अधिष्ठाता देवताके ईक्षणका ही

रत्नप्रभा

गुणसमर्पणं कृतम्। तेजआदीनाम् ईक्षणं त्वयैव ईक्षत्यधिकरणे [ब्र०सू० १।१।५]

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए वाणी आदिने अपने वासिष्ठत्व आदि गुणका समर्पण किया है। तेज आदिका ईक्षण

(१) श्रेष्ठताका निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास गये हुए प्राणोंके प्रति प्रजापतिने कहा कि तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर चेतनाशून्य होकर गिर जाय, वह श्रेष्ठ है। तब चक्षु आदि एक एक इन्द्रियके निकलनेपर अन्धत्व आदि प्राप्त हुए, परन्तु शरीरपात नहीं हुआ। जब मुख्य प्राण निकलने लगा, तब इन्द्रियां भी विकल हो गईं, शरीर भी गिरने लगा। तब सबने यह निर्णय किया कि मुख्य प्राण श्रेष्ठ है। अनन्तर चक्षु आदि इन्द्रियों ने मुख्य प्राणके लिए अपने अपने असाधारण गुणोंका समर्पण किया। यह प्राणसंवादका उपाख्यान है।

भाष्य

तस्माद् विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्, विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकम् ॥५॥
इत्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

भाष्यका अनुवाद

अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण ही है और विलक्षण होनेसे ही ब्रह्म उसकी प्रकृति नहीं है ॥ ५ ॥
ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

चेतननिष्ठतया व्याख्यातं द्रष्टव्यम् इत्यर्थः। यस्मात् नास्ति जगतः चेतनत्वं तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतननिष्ठ है, ऐसा तुमने (वेदान्तीने) ही ईक्षत्याधिकरणमें व्याख्यान किया है। चूँकि जगत् चेतन नहीं है, इसलिए [चेतन प्रकृतिक नहीं है] ऐसा पूर्वपक्षका उपसंहार है ॥५॥

दृश्यते तु ॥६॥

पदच्छेद—दृश्यते, तु।

पदार्थोक्ति—तु—किन्तु चेतनात् तद्विलक्षणानामचेतनानाम्, तथा अचेतनात् तद्विलक्षणानां चेतनानाञ्चोत्पत्तिः, दृश्यते, [अतः अचेतनं जगत् चेतनप्रकृतिकं भवितुमर्हति]।

भाषार्थ—चेतनसे चेतनविलक्षण अचेतन पदार्थोंकी एवं अचेतनसे तद्विलक्षण चेतन पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए अचेतन जगत् चेतन-प्रकृतिक हो सकता है।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृति-

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द पूर्वपक्षके निराकरणका द्योतक है। विलक्षण होनेसे यह

रत्नप्रभा

किं यत्किंचिद् वैलक्षण्यं हेतुः बहुवैलक्षण्यं वा। आद्ये व्यभिचारमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैलक्षण्यरूप जो हेतु कहा गया है, वह क्या यत्किंचित् विलक्षणता है अथवा बहु विलक्षणता

भाष्य

कम् इति। नाऽयमेकान्तः। दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्। नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति? उच्यते—एवमपि किञ्चिदचेतनं चेतनस्याऽऽयतनभावमुपगच्छति किञ्चिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम्। महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादि-

भाष्यका अनुवाद

जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ नहीं है, ऐसा जो कहा है, वह नियम सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि लोकमें चेतनरूपसे प्रसिद्ध पुरुष आदिसे विलक्षण केश, नख आदिकी उत्पत्ति दिखाई देती है और अचेतनरूपसे प्रसिद्ध गोमय आदिसे वृश्चिक आदिकी उत्पत्ति दिखाई देती है। परन्तु पुरुष आदिके अचेतन शरीर ही अचेतन केश, नख आदिके कारण हैं और अचेतन गोमय आदि वृश्चिक आदिके अचेतन शरीरके ही कारण हैं? कहते हैं—इस प्रकार भी कुछ अचेतन चेतनके आश्रय होते हैं और कुछ नहीं होते, ऐसी विलक्षणता है ही। और यह परिणामात्मक स्वभावकी विलक्षणता बहुत बड़ी है, क्योंकि पुरुष आदि और केश, नख आदिके स्वरूप आदिमें भेद है। उसी

रत्नप्रभा

नाऽयमेकान्तः। दृश्यते हीति। हेतोरसत्त्वात् न व्यभिचार इति शङ्कते—नन्विति। यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्तीति व्यभिचार इत्याह—उच्यते इति। शरीरस्य केशादीनाञ्च प्राणित्वाप्राणित्वरूपं वैलक्षण्यमस्तीत्यर्थः। द्वितीयेऽपि तत्रैव व्यभिचारमाह—महानिति। पारिणामिकः—केशादीनां स्वगतपरिणामात्मक इत्यर्थः। किञ्च ययोः प्रकृतिविकारभावः तयोः सादृश्यं वदता वक्तव्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

है? प्रथम पक्षमें हेतुका व्यभिचार कहते हैं—"नायमेकान्तः"। "दृश्यते हि" इत्यादिसे। हेतुके न होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। थोड़ीसी विलक्षणता है, इसलिए व्यभिचार होता है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। शरीर प्राणयुक्त है, केश आदि प्राणयुक्त नहीं है, इस प्रकार शरीर और केश आदिमें प्राणित्व, अप्राणित्व रूप विलक्षणता है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरे पक्षमें भी उसी स्थलमें हेतुका व्यभिचार दिखलाते हैं—"महान्" इत्यादिसे। पारिणामिक—केश आदिका स्वगत परिणामात्मक। और जिन दो पदार्थोंमें प्रकृति-विकारभाव है, उन पदार्थोंका सादृश्य कहनेवालेसे

भाष्य

भेदात् । तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च । अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत । अथोच्येत—अस्ति कश्चित् पार्थिवत्वादि-स्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां च वृश्चिका-दिषु इति ? ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्त-मानो दृश्यते । विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याऽननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्य-चिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम् । प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारभावो-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार गोमय आदि और वृश्चिक आदिकी परिणामात्मक विलक्षणता भी बहुत बड़ी है । अत्यन्त सादृश्य होनेपर तो कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा । यदि कोई कहे कि पुरुष आदिके कुछ पार्थिवत्व आदि स्वभाव केश, नख आदिमें अनुवर्तमान हैं और गोमय आदिके भी पार्थिवत्व आदि स्वभाव वृश्चिक आदिमें अनुवर्तमान हैं ? तब तो ब्रह्मका भी सत्तात्मक स्वभाव आकाश आदिमें अनुवर्तमान दिखाई देता है । और विलक्षणत्वरूप कारणसे जगत्के ब्रह्मप्रकृतिकत्वमें दोष कहनेवालेको कहना चाहिए कि अशेष ब्रह्मस्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव विलक्षणत्वरूपसे अभीष्ट है या चाहे किसी स्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव या चैतन्यकी अनुवृत्तिका अभाव अभिप्रेत है । प्रथम पक्षमें समस्त प्रकृतिविकृति-

---

रत्नप्रभा

किम् आत्यन्तिकं यत्किञ्चिद् वा इति, आद्ये दोषमाह—**अत्यन्तेति** । द्वितीयम् आशङ्क्य ब्रह्मजगतोरपि तत्सत्त्वात् प्रकृतिविकृतित्वसिद्धिरित्याह—**अथेत्यादिना** । विलक्षणत्वं विकल्प्य दूषणान्तरमाह—**विलक्षणत्वेनेत्यादिना** । जगति समस्तस्य ब्रह्मस्वभावस्य चेतनत्वादेरननुवर्तनात् न ब्रह्मकार्यत्वमिति पक्षे सर्वसाम्ये प्रकृतिविकारत्वमित्युक्तं स्यात् तदसङ्गतमित्याह—**प्रथमे इति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह पूछना चाहिए कि क्या सादृश्य आत्यन्तिक—सर्वांशमें पूर्ण है अथवा यत्किञ्चित् है । प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"अत्यन्त" इत्यादिसे । द्वितीय पक्षकी आशंका करके ब्रह्म और जगत्में भी यत्किञ्चित् सादृश्य होनेसे प्रकृतिविकारभाव सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । विलक्षणतामें विकल्प करके दूसरा दोष बतलाते हैं—"विलक्षणत्वेन" इत्यादिसे । ब्रह्मके चेतनत्व आदि सब स्वभावोंकी जगत्में अनुवृत्ति नहीं होती है, इसलिए जगत् ब्रह्मकार्य नहीं है, इस पक्षमें पूर्ण समानता होनेसे ही प्रकृतिविकारभाव होता है, ऐसा कहा

भाष्य

च्छेदप्रसङ्गः। नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकारभाव इति भवति। द्वितीये चाऽसिद्धत्वम्, दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम्। तृतीये तु दृष्टान्ताभावः, किं हि यच्चैतन्येनाऽनन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मकरणवादिनं प्रत्युदाह्रियेत, समस्तस्याऽस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात्। आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात्। यत्तूक्तम्—

भाष्यका अनुवाद

भावका उच्छेद हो जायगा। प्रकृति और विकारमें अतिशय न होनेपर यह प्रकृति है, यह विकार है, ऐसा भेद ही नहीं रह जायगा। द्वितीय पक्षमें असिद्धि है, क्योंकि सत्तारूप ब्रह्मस्वभावकी आकाश आदिमें अनुवृत्ति देखी जाती है, ऐसा कहा गया है। तृतीय पक्षमें तो कोई दृष्टान्त ही नहीं है। जो चैतन्यसे युक्त नहीं है, वह ब्रह्मप्रकृतिक नहीं देखा जाता, ऐसा कौन-सा उदाहरण ब्रह्मवादीके प्रति देंगे? क्योंकि समस्त वस्तुसमूह ब्रह्मप्रकृतिक माना गया है। शास्त्रविरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है, यह आगमका तात्पर्य है, ऐसा सिद्ध किया है। ब्रह्म सिद्ध

रत्नप्रभा

तृतीये तु दृष्टान्ताभाव इति। न च जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, अचेतनत्वाद्, अविद्यावदिति दृष्टान्तोऽस्तीति वाच्यम्, अनादित्वस्य उपाधित्वात्। न च ध्वंसे साध्याव्यापकता, तस्याऽपि कार्यसंस्कारात्मकस्य भावत्वेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वाद् अभावत्वाग्रहे च अनादिभावत्वस्य उपाधित्वादिति। सम्प्रति कल्पत्रयसाधारणं दोषमाह—आगमेति। पूर्वोक्तमनूद्य ब्रह्मणः शुष्कतर्कविषयत्वासम्भवात् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, वह असंगत है, ऐसा कहते हैं—"प्रथमे" इत्यादिसे। "तृतीये तु दृष्टान्ताभावः" इत्यादि। जगत् ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, अचेतन होनेसे, अविद्याके समान, यह दृष्टान्त है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें अनादित्व उपाधि है। ध्वंसमें साध्यव्यापकता नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ध्वंस भी कार्यसंस्काररूप होनेसे भाव है, अतः ब्रह्मप्रकृतिक है, यदि यह आग्रह हो कि ध्वंस भाव नहीं है, अभाव ही है, तो अनादिभावत्वको उपाधि समझना चाहिए। अब तीनों पक्षोंमें रहनेवाला दोष कहते हैं—"आगम" इत्यादिसे। पूर्वोक्तका अनुवाद करके ब्रह्म शुष्क तर्कका विषय नहीं हो सकता है,

भाष्य

परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति, तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नाऽनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। तथा च श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १।२।९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' 'इयं विसृष्टिर्यत

भाष्यका अनुवाद

वस्तु होनेसे उसमें अन्य प्रमाण संभव हों, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूप आदिका अभाव होनेसे ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभावसे अनुमान आदिका विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्मके समान आगममात्रसे ज्ञातव्य है। इस विषयमें 'नैषा तर्केण मतिरापनेया०' (हे प्रियतम ! यह मति तर्कसे प्राप्त की जा सके, या दूर की जा सके, ऐसी नहीं है, कुतार्किकसे अन्यकी कही हुई मति सुज्ञानके लिए होती है) इत्यादि श्रुति है। 'को अद्धा वेद०' (कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता) 'इयं विसृष्टिर्यत०' (यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न

रत्नप्रभा

तर्केण आक्षेप इत्याह—यत्तूक्तमित्यादिना। लिङ्गसादृश्यपदप्रवृत्तिनिमित्तानाम् अभावात् अनुमानोपमानशब्दानाम् अगोचरः, ब्रह्म लक्षणया वेदैकवेद्यमित्यर्थः। एषा ब्रह्मणि मतिः तर्केण स्वतन्त्रेण नाऽपनेया न संपादनीया। यद्वा, कुतर्केण न बाधनीया कुतार्किकाद् अन्येनैव वेदविदाऽऽचार्येण प्रोक्ता मतिः सुज्ञानाय—अनुभवाय फलाय भवति। हे प्रेष्ठ प्रियतम ! इति नचिकेतसं प्रति मृत्योर्वचनम्। इयं विविधा सृष्टिर्यतः आ समन्ताद् बभूव तं को वा अद्धा साक्षाद् वेद, तिष्ठतु वेदनम्, क इह लोके तं प्रवोचत् प्रावोचत्, छान्दसो

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए तर्कसे आक्षेप नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। आशय यह कि हेतु न होनेसे ब्रह्म अनुमानका विषय नहीं है, सादृश्य न होनेसे उपमानका एवं पद न होनेसे शब्दप्रमाणका विषय नहीं है, परन्तु लक्षणासे केवल वेदसे ही उसका ज्ञान होता है। [नैषा तर्केण०—] ब्रह्मबुद्धि स्वतंत्र तर्कसे प्राप्त नहीं की जा सकती। अथवा कुतर्कसे बाधित नहीं हो सकती, कुतार्किकसे अन्य वेदज्ञ आचार्यसे कथित बुद्धि ही अनुभवरूप फलदायक होती है। हे प्रेष्ठ ! (हे प्रियतम !) यह नचिकेताके प्रति मृत्युका वचन है। यह विविध सृष्टि जिससे हुई है, उसको कौन साक्षात् जानता है, उसको जानना तो दूर रहा, इस लोकमें उसका यथार्थ स्वरूप कौन कह सकता है अर्थात् उसका यथार्थ रूपसे उपदेश देनेवाला भी कोई नहीं है। 'प्रवोचत्' यहां दीर्घका लोप छान्दस

भाष्य

आबभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २।२५) इति च।

'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥' (गी० १०।२)

इति चैवंजातीयका। यदपि–श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयति इत्युक्तम्। नाऽनेन मिषेण शुष्कतर्कस्याऽत्राऽऽत्मलाभः संभवति, श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाऽऽश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वम्, सं-

भाष्यका अनुवाद

हुई) ये दोनों ऋचाएँ जगत्का कारण सिद्ध ब्रह्म योगियोंके लिए भी दुर्बोध है, ऐसा दिखलाती हैं। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा०' (जो पदार्थ अचिंत्य हैं, उन्हें तर्करूप कसौटीसे कसना उचित नहीं है) और 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्यो०' (यह अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है और यह अविकार्य कहलाता है) 'न मे विदुः सुरगणाः०' (देवगण या महर्षि मेरे जन्मको नहीं जानते, मैं सब देवों और महर्षियोंका आदि हूँ) इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं। श्रवणसे भिन्न मननका विधान करती हुई श्रुति ही तर्कका भी आदर करना चाहिए, ऐसा दिखलाती है, यह जो पीछे कहा गया है, उस कथनसे यहां शुष्क तर्क अवकाश नहीं पा सकता, यहां श्रुतिसे अनुगृहीत तर्कका अनुभवके सहायकरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था इन दोनोंमें परस्पर व्यभिचार होनेसे

रत्नप्रभा

दीर्घलोपः, यथावद् वक्तापि नास्तीत्यर्थः। प्रभवम्—जन्म न विदुः, मम सर्वादित्वेन जन्माभावात्। मिषेण—मननविधिव्याजेन, शुष्कः—श्रुत्यनपेक्षः। श्रुत्या तत्त्वे निश्चिते सति अनु—पश्चात् पुरुषदोषस्य असम्भावनादेः निरासाय

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। मेरे प्रभव—उत्पत्तिको नहीं जानते हैं, सबका कारण होनेसे मेरा जन्म ही नहीं है। मिषेण—मननविधिके बहानेसे, शुष्क—श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाला। श्रुतिसे तत्त्वका निश्चय करनेके अनन्तर असंभावना आदि पुरुषदोषोंका निरास करनेके लिए स्वीकृत तर्क श्रुत्यनुगृहीत कहलाता है,

भाष्य

प्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना सम्पत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजाती-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्तिमें प्रपञ्चका परित्याग होनेसे आत्मा सत्स्वरूप आत्माके साथ एक होकर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और प्रपञ्च ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, इसलिए कारण कार्यसे अभिन्न है, इस न्यायसे ब्रह्मसे प्रपञ्च

रत्नप्रभा

गृहीतः श्रुत्यनुगृहीतः, तमाह—स्वप्नान्तेति। जीवस्य अवस्थावतो देहादिप्रपञ्चयुक्तस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यम् असम्भवि, द्वैतग्राहिप्रमाणविरोधाद् ब्रह्मणश्च अद्वितीयत्वमयुक्तम् इत्येवं श्रौतार्थासम्भावनायां तन्निरासाय सर्वासु अवस्थासु आत्मन अनुगतस्य व्यभिचारिणीभिः अवस्थाभिः अनन्वागतत्वम्—असंस्पृष्टत्वम् अवस्थानां स्वाभाविकत्वे वह्न्यौष्ण्यवद् आत्मव्यभिचारायोगात्, सुषुप्तौ प्रपञ्चभ्रान्त्यभावे "सता सोम्य" [छा० ६।८।१] इत्युक्ताभेददर्शनात् निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यसम्भवः, यथा घटादयो मृदभिन्नाः, तथा जगद् ब्रह्माभिन्नम् तज्जत्वाद्, इत्यादिः तर्कः आश्रीयते इत्यर्थः। इतोऽन्यादृशस्य तर्कस्याऽत्र ब्रह्मणि अप्रवेशात् अस्य चाऽनुकूलत्वात् न तर्केण आक्षेपावकाश इति भावः। ब्रह्मणि शुष्कतर्कस्याऽप्रवेशः सूत्रसम्मत

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसको कहते हैं—"स्वप्नान्त" इत्यादिसे। जीव अवस्थावाला और देह आदि प्रपंचसे युक्त है, इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्मके साथ उसका ऐक्य नहीं हो सकता और द्वैतके ग्राहक प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेसे ब्रह्मको अद्वितीय मानना उचित नहीं है, इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित अर्थका असंभव प्राप्त होनेपर उसके निराकरणके लिए सब अवस्थाओंसे अनुगत आत्मा परस्पर व्यभिचरित अवस्थाओंसे अस्पृष्ट है, अवस्थाएँ यदि स्वाभाविक हों तो वह्निगत उष्णताके समान उनका व्यभिचार नहीं हो सकता, सुषुप्तिमें प्रपंचभ्रान्ति न होनेसे 'सता सोम्य' (हे प्रियदर्शन! सुषुप्त्यवस्थामें जीव ब्रह्मके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे कथित अभेद दिखाई देता है, इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्मके साथ एकताका संभव है, जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न होनेसे घट आदि मृत्तिकासे अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्मजन्य होनेसे जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, इत्यादि तर्क स्वीकृत होते हैं, ऐसा अर्थ है। इससे भिन्न प्रकारके तर्कका ब्रह्ममें प्रवेश न होनेसे और उक्त प्रकारके तर्क सिद्धान्तानुकूल होनेसे तर्कसे आक्षेपका अवकाश ही नहीं है, यह आशय है। ब्रह्ममें शुष्क तर्कका प्रवेश नहीं है, यह बात सूत्रसंमत है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

यकः। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति। योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतन-विभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते। कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवम-

भाष्यका अनुवाद

अभिन्न है, इस प्रकारके तर्कका स्वीकार किया जाता है। और "तर्काप्रतिष्ठानात्" इस सूत्रमें केवल तर्क प्रमापक नहीं है, ऐसा दिखलाया जायगा। जो कोई चेतनको कारण कहनेवाली श्रुतिके बलसे ही समस्त जगत् चेतन है, ऐसी उत्प्रेक्षा करता है, उसके मतमें भी 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार चेतन और अचेतनका विभाग करनेवाली श्रुतिकी योजना चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे की जा सकती है। परन्तु परके (सांख्यके) मतमें ही इस विभागश्रुतिकी योजना नहीं हो सकती। किस प्रकार? क्योंकि 'विज्ञानं चावि०' (विज्ञान और अविज्ञान हुआ) यह श्रुति परम कारणकी

रत्नप्रभा

इत्याह—तर्काप्रतिष्ठानादिति। विप्रलम्भकत्वम्—अप्रमापकत्वम्। यदुक्तम् एकदेशिना सर्वस्य जगतः चेतनत्वोक्तौ विभागश्रुत्यनुपपत्तिः इति दूषणं सांख्येन। तत् न, तत्र तेन एकदेशिना विभागश्रुतेः चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्ति·भ्यां योजयितुं शक्यत्वात्। सांख्यस्य त्विदं दूषणं वज्रलेपायते, प्रधानकार्यत्वे सर्वस्याऽचेतनत्वेन चेतनाचेतनकार्यविभागासम्भवाद् इत्याह—योऽपीत्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तर्काप्रतिष्ठानात्" इत्यादिसे। विप्रलम्भकत्व—यथार्थ-ज्ञानको उत्पन्न न करना। सांख्यने जो यह दूषण दिखलाया है कि एकदेशीसे कथित सारे जगत्‌की चेतनता माननेपर प्रविभाग-श्रुति उपपन्न नहीं होगी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एकदेशी तो चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे विभागश्रुतिकी योजना कर सकता है। परन्तु सांख्यके मतमें तो यह दूषण वज्रलेपसा है, क्योंकि जगत्‌को प्रधानका कार्य माननेपर सम्पूर्ण जगत्‌के अचेतन होनेसे चेतन कार्य और अचेतन कार्यका विभाग हो ही नहीं सकेगा, ऐसा कहते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे।

भाष्य

चेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्येव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

समस्त जगत्स्वरूपसे स्थिति है, ऐसा दिखलाती है। उसमें जैसे विलक्षणतासे चेतनका अचेतनभाव नहीं बन सकता, वैसे ही अचेतनका भी चेतनभाव उपपन्न नहीं होता। परन्तु विलक्षणताका निराकरण किया है, इसलिए श्रुतिके अनुसार ही चेतन कारणका ग्रहण करना चाहिए ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्ते चेतनाचेतनवैलक्षण्याङ्गीकारे कथं ब्रह्मणः प्रकृतित्वमित्यत आह—प्रत्युक्तत्वादिति। अप्रयोजकत्वव्यभिचाराभ्यां निरस्तत्वाद् इत्यर्थः ॥६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्में चेतनाचेतन वैलक्षण्य माननेसे सिद्धान्तमें ब्रह्म जगदुपादान कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"प्रत्युक्तत्वात्" इत्यादि। अर्थात् अप्रयोजकत्व और व्यभिचारसे निराकरण करनेके कारण ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—असत्, इति, चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्।

पदार्थोक्ति—असत्—उत्पत्तेः प्राक् जगत् असत् स्यात्, इति चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्—'असत् स्यात्' इति प्रतिषेधमात्रत्वात् [कार्यसत्तायाः कारणाव्यतिरेकात् स्थितिदशायामिवोत्पत्तेः पूर्वमपि ब्रह्मात्मकमेवेदं जगत्, नासत् इति भावः]।

भावार्थ—उत्पत्तिके पहले यह जगत् असत् हो जायगा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'असत् होगा' यह केवल प्रतिषेध ही है अर्थात् प्रतिषेध्य न होनेसे यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य-सत्ता कारण-सत्तासे भिन्न नहीं है, इसलिए स्थितिकालके समान उत्पत्तिके पहले यह जगत् ब्रह्मरूप ही था, असत् नहीं था।

भाष्य

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याऽचेतनस्याऽशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत् सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्। नैष दोषः। प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नाऽस्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति, नह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। नहीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं तं परादाद्योऽ-

भाष्यका अनुवाद

यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादिरहित ब्रह्म अपनेसे विपरीत अचेतन, अशुद्ध, शब्दादियुक्त कार्यका कारण माना जाय, तो उत्पत्तिसे पूर्व कार्य नहीं था, ऐसा मानना पड़ेगा। और सत्कार्यवादको माननेवाले तुम्हारे लिए यह अनिष्ट होगा, ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रतिषेधमात्र है। निस्सन्देह यह प्रतिषेध ही है, इस प्रतिषेधका प्रतिषेध्य[1] कोई पदार्थ नहीं है। यह प्रतिषेध उत्पत्तिके पूर्व कार्यके सत्त्व[2]का प्रतिषेध नहीं कर सकता। किस प्रकार? क्योंकि जिस प्रकार अब भी यह कार्य कारणरूपसे विद्यमान है, उसी प्रकार उत्पत्तिके पूर्व भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाता है। अब भी कार्य कारणस्वरूपके बिना स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि 'सर्वं तं परादा०' (जो आत्मासे भिन्न सबको

रत्नप्रभा

कार्यम् उत्पत्तेः प्राग् असदेव स्यात् स्वविरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगाद् इत्यपसिद्धान्तापत्तिमाशङ्क्य मिथ्यात्वात् कार्यस्य कालत्रयेऽपि कारणात्मना सत्त्वम् अविरुद्धमिति समाधत्ते—असदिति चेदित्यादिना। असत् स्यादिति सत्त्वप्रतिषेधो निरर्थक इत्यर्थः। कार्यसत्यत्वाभावे श्रुतिमाह—सर्वं तमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके पहले कार्य असत् ही होगा, क्योंकि अपनेसे विरुद्ध कारणरूपसे रह नहीं सकता, इस प्रकार अपसिद्धान्त होगा, ऐसी आशंका कर कार्य मिथ्या होनेसे तीनों कालोंमें भी कारणरूपसे उसका रहना अविरुद्ध है, ऐसा समाधान करते हैं—"असदिति चेत्" इत्यादिसे। असत् होगा, इस प्रकार सत्ताका निषेध व्यर्थ है, ऐसा अर्थ है। कार्य सत्य नहीं है, इस

(१) जिसका प्रतिषेध किया जा सके। (२) सत्ता।

भाष्य

न्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात्। कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम्। ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम्। बाढम्। न तु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वाऽस्ति, तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत् कार्यमिति। विस्तरेण चैतत् कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

जानता है, उसका सब पराकरण[1] करते हैं) ऐसी श्रुति है। उत्पत्तिसे पूर्व कार्यके कारणस्वरूपसे होनेमें तो स्थितिकालसे कोई विशेष नहीं है। परन्तु क्या शब्दादि रहित ब्रह्म जगत्का कारण है? हाँ है, किन्तु शब्दादियुक्त कार्य कारणरूपसे रहित न उत्पत्तिके पूर्व था, न अब है, इसलिए उत्पत्तिके पहले कार्य विद्यमान नहीं था, ऐसा नहीं कह सकते। कार्यकारणके अभेदका प्रतिपादन करनेके अवसरपर इसका विस्ताररूपसे वर्णन करेंगे ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

मिथ्यात्वमजानतः शङ्काम् अनूद्य परिहरति—**नन्वित्यादिना**। **विस्तरेण चैतदिति**। मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषयमें श्रुति कहते हैं—"सर्वं तम्" इत्यादिसे। मिथ्यात्वको नहीं जाननेवालेकी आशंकाका अनुवाद कर उसका परिहार करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। "विस्तरेण चैतत्"। एतत्—मिथ्यात्व ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अपीतौ, तद्वत्, प्रसङ्गात्, असमञ्जसम्।

पदार्थोक्ति—अपीतौ—प्रलयसमये, तद्वत्—कार्यवत्, प्रसङ्गात्—कारणस्यापि ब्रह्मणोऽशुद्धत्वादिप्रसङ्गात्, असमञ्जसम्—शुद्धत्वादिगुणकं ब्रह्म जगदुपादानमित्ययुक्तम्।

भाषार्थ—शुद्धत्व आदि गुणवाला ब्रह्म जगत्का उपादानकारण हो, यह अयुक्त है, क्योंकि प्रलयकालमें कार्यके समान कारण ब्रह्म भी अशुद्धि आदि धर्मवाला हो जायगा।

(१) पुरुषार्थसे भ्रष्ट करते हैं।

भाष्य

अत्राऽऽह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं ब्रह्मकारणकमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाऽशुद्ध्यादिरूपताप्रसङ्गात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याऽविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद् भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं

भाष्यका अनुवाद

यहां कहते हैं—स्थूलता, अवयवयोग, अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्व, अशुद्धि आदि धर्मवाले कार्यका कारण ब्रह्म है, ऐसा यदि स्वीकार किया जाय, तो प्रलयमें लीन होता हुआ अर्थात् कारणसे पृथक् प्रतीत न होता हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित करेगा, इस प्रकार प्रलयमें कारण ब्रह्मकी भी कार्यके समान अशुद्धि आदि रूपका प्रसंग आनेसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्‌का कारण है, यह उपनिषद्दर्शन अयुक्त हो जायगा। और समस्त विभागका अविभाग प्राप्त होनेपर पुनः उत्पत्तिमें नियम कारणका अभाव होनेसे भोक्ता, भोग्य आदि विभागसे उत्पत्ति प्राप्त न होगी, यह अयुक्त है। और परब्रह्मके साथ

रत्नप्रभा

सत्कार्यवादसिद्ध्यर्थं कार्याभेदे कारणस्यापि कार्यवदशुद्ध्यादिप्रसङ्ग इति शङ्कासूत्रं व्याचष्टे—अत्राऽऽहेति। प्रतिसंसृज्यमानपदस्य व्याख्या—कारणाविभागेति। यथा जले लीयमानं लवणद्रव्यं जलं दूषयति तद्वदित्यर्थः। सूत्रस्य योजनान्तरमाह—अपि चेति। सर्वस्य कार्यस्याऽपीतौ कारणवत् एकरूपत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। अर्थान्तरमाह—अपि चेति। कर्मादीनाम् उत्पत्तिनिमित्तानां प्रलयेऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए कार्यको कारणसे अभिन्न माननेपर कारण भी कार्यके समान अशुद्धि आदि गुणवाला हो जायगा, इस अर्थके प्रतिपादक शंकासूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अत्राऽऽह" इत्यादिसे। "कारणाविभाग" इत्यादि प्रतिसंसृज्यमान पदका व्याख्यान है। जैसे जलमें प्रलीन लवण जलको दूषित करता है, वैसे कार्य ब्रह्ममें लीन होकर अपने धर्मसे ब्रह्मको दूषित करेगा यह अर्थ है। सूत्रकी दूसरी योजना कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अर्थात् सब कार्योंका प्रलयमें कारणके समान एक रूप होनेका प्रसंग हो जायगा। सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

भाष्य

गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणाऽवतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

अभेदको प्राप्त हुए भोक्ताओंकी, कर्म आदि निमित्तका प्रलय होनेपर भी, पुनरुत्पत्ति मानी जाय, तो मुक्तोंकी भी पुनरुत्पत्ति माननी पड़ेगी यह अनुचित है। यदि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मसे विभक्त ही अवस्थित रहे, तो इस प्रकार प्रलयका ही संभव नहीं होगा और कारणसे अभिन्न कार्यका संभव नहीं होगा, इसलिए यह औपनिषद दर्शन अयुक्त ही हो जायगा ॥ ८ ॥

इस पर कहते हैं—

रत्नप्रभा

भोक्तॄणाम् उत्पत्तौ तद्वदेव मुक्तानाम् अपि उत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। शङ्कापूर्वकं व्याख्यान्तरमाह—**अथेति**। यदि लयकालेऽपि कार्यं कारणाद् विभक्तं तर्हि स्थिति-कालवत् लयाभावप्रसङ्गात् कार्येण द्वैतापत्तेश्च असमञ्जसमिदं दर्शनमित्यर्थः ॥८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके कारणभूत कर्म आदिका प्रलय होनेपर भी भोक्ता जीवात्माओंकी उत्पत्ति माननेसे उसी प्रकार मुक्त आत्माओंकी भी उत्पत्ति माननी होगी, ऐसा अर्थ है। शंकापूर्वक अन्य व्याख्यान कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। यदि प्रलय कालमें भी कार्य कारणसे भिन्न हो, तो स्थिति कालके समान कभी लय ही नहीं होगा और कारणसे कार्य भिन्न हो, तो द्वैतकी आपत्ति होगी, इसलिए यह दर्शन असंगत हो जायगा, ऐसा अर्थ है ॥८॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—न, तु, दृष्टान्तभावात्।

पदार्थोक्ति—न तु—असमञ्जसं नास्त्येव [कुतः] दृष्टान्तभावात्—कारणे लीयमानं कार्यं कारणं न दूषयतीत्यर्थे शतशो दृष्टान्तानां सत्त्वात्।

भाषार्थ—पूर्वोक्त असामञ्जस्य है नहीं, क्योंकि कारणमें लीन कार्य अपने कारणको दूषित नहीं करता है, इस विषयमें सैकड़ों दृष्टान्त हैं।

भाष्य

नैवाऽस्मदीये दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति। यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत् कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेत् इति, तददूषणम्। कस्मात्? दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न पुनः सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति। त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद् दृष्टान्तोऽस्ति। अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत।

भाष्यका अनुवाद

हमारे दर्शनमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है। कारणमें लीन होता हुआ कार्य अपने धर्मसे कारणको दूषित करे, ऐसा जो कहा है, वह दूषण नहीं है। किससे? दृष्टान्तके अस्तित्वसे। कारणमें लीन हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित नहीं करता, इस विषयमें दृष्टान्त हैं। जैसे मिट्टीसे बने हुए शरावादि स्थितिकालमें छोटे, बड़े और मझले आकारके होकर पुनः प्रकृतिमें लीन होते हुए उसको अपने धर्मसे मिश्रित नहीं करते। और रुचक आदि सुवर्ण विकार प्रलयमें सुवर्णको अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते। उसी प्रकार चार प्रकारके पृथिवीके विकार भूतसमुदाय पृथिवीको प्रलयमें अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते। तुम्हारे पक्षमें तो कोई दृष्टान्त नहीं है। यदि कारणमें

रत्नप्रभा

अपीतौ जगत् स्वकारणं न दूषयति कारणे लीनत्वाद् मृदादिषु लीनघटादिवदिति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—नैवेत्यादिना। अपिगच्छत्—लीयमानम्, विभागावस्था—स्थितिकालः। त्वत्पक्षस्येति। मधुरजलं लवणस्य अकारणम् इत्यदृष्टान्तः। किञ्च, दूषकत्वे कार्यस्य स्थितिः स्यात् लवणवद् इत्याह—अपीतिरेवेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रलयमें जगत् अपने कारणको दूषित नहीं करता है, क्योंकि कारणमें लीन होता है, मृत् आदिमें लीन घट आदिके समान, इस प्रकार सिद्धान्त सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"नैव" इत्यादिसे। अपिगच्छत्—लीन होता हुआ। विभागावस्था स्थितिसमय। "त्वत्पक्षस्य" इत्यादि। मधुर जल लवणका कारण नहीं है, इसलिए वह दृष्टान्त नहीं हो सकता। और कार्य यदि अपने धर्मसे कारणको दूषित करे, तो लवणके समान सर्वदा कार्यकी स्थिति हो,

भाष्य

अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्र वक्ष्यामः (ब्र० सू० २।१।१४)। अत्यल्पं चेदमुच्यते—कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेत् इति। स्थितावपि हि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इत्येवमाद्याभिर्हि

भाष्यका अनुवाद

कार्य अपने धर्मसे ही अवस्थित रहे तो प्रलय ही न हो। कार्य और कारण अनन्य हैं, तो भी कार्य कारणात्मक है, परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है, ऐसा 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' में कहेंगे। और प्रलयमें कार्य अपने धर्मसे कारणको संसृष्ट करता है, यह कथन बहुत थोड़ा है, स्थितिमें भी यह प्रसंग समान ही है, क्योंकि कार्य और कारण अनन्य हैं, ऐसा स्वीकार है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (दृश्यमान सब पदार्थ यह आत्मा ही है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदममृतं०' (यह अमृत ब्रह्म ही पूर्व दिशामें है) 'सर्वं खल्विदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुतियां तीनों

रत्नप्रभा

असति कार्ये तद्धर्मेण कारणस्य योगो न सम्भवति धर्म्यसत्त्वे धर्माणामपि असत्त्वादिति भावः। ननु सत्कार्यवादे लयेऽपि कार्यस्य कारणाभेदेन सत्त्वाद् दूषकत्वं स्याद् इत्यत आह—अनन्यत्वेऽपीति। कल्पितस्य अधिष्ठानधर्मवत्त्वम् अभेदात् न त्वधिष्ठानस्य कल्पितकार्यधर्मवत्त्वम् तस्य कार्यात् पृथक् सत्त्वादित्यर्थः। किञ्च, अपीतौ इति विशेषणं व्यर्थमिति प्रतिबन्द्या समाधत्ते—अत्यल्पं

रत्नप्रभाका अनुवाद

लय ही न हो, ऐसा कहते हैं—"अपीतिरेव" इत्यादिसे। कार्य न हो, तो उसके धर्मके साथ कारणका संबन्ध ही न हो सकेगा, क्योंकि धर्मी ही न हो, तो उसके धर्म ही नहीं रह सकेंगे, ऐसा आशय है। परन्तु सत्कार्यवादमें प्रलयकालमें भी कार्य कारणाभिन्न रहता है, इसलिए कारणको दूषित कर सकता है, इसपर कहते हैं—"अनन्यत्वेऽपि" इत्यादि। कल्पित वस्तुमें अधिष्ठानके धर्म रहते हैं, क्योंकि वह उससे अभिन्न है, परन्तु अधिष्ठानमें कल्पित कार्यका कोई धर्म नहीं रहता है, क्योंकि वह कार्यसे भिन्न है, ऐसा अर्थ है। और 'अपीतौ' यह विशेषण व्यर्थ भी है, इस प्रकार प्रतिबन्दी उत्तर देकर समाधान करते हैं—"अत्यल्पं

भाष्य

श्रुतिमिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणादनन्यत्वं श्राव्यते। तत्र यः परिहारः—कार्यस्य तद्धर्माणां चाऽविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यते—इति, अपीतावपि स समानः। अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यते प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्, एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न

भाष्यका अनुवाद

कालमें एकरूपसे कार्यका कारणसे अभेद प्रतिपादन करती हैं। उसमें कार्य और उसके धर्मोंका अविद्या द्वारा कारणमें अध्यारोप होनेसे उनके साथ कारण संस्पृष्ट नहीं होता, ऐसा जो परिहार है, वह प्रलयमें भी समान है। और यह दूसरा दृष्टान्त है कि जैसे अपनी फैलाई हुई मायासे तीनों कालमें मायावी संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया अवस्तु है, वैसे ही परमात्मा भी संसारकी मायासे स्पृष्ट नहीं होता। और जैसे एक स्वप्न देखनेवाला स्वप्नदर्शनकी मायासे संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि जाग्रत् और सुषुप्तिमें वह मायासे अनुगम्यमान नहीं है, इसी प्रकार तीनों अवस्थाओंका साक्षी, एक जो अव्यभिचारी है, वह तीनों व्यभिचारी

रत्नप्रभा

चेति। परिणामदृष्टान्तं व्याख्याय विवर्तदृष्टान्तं व्याचष्टे—अस्ति चेति। मायावी अनुपादानमिति अरुच्या दृष्टान्तान्तरमाह—यथा चेति। अस्त्येव स्वप्नकाले दृष्टः संसर्ग इत्यत आह—प्रबोधेति। जाग्रत्सुषुप्त्योः स्वप्नेनाऽऽत्मनः अस्पर्शात् तत्कालेऽपि अस्पर्श इत्यर्थः। यदा अज्ञस्य जीवस्य अवस्थाभिः असंसर्गः, तदा सर्वज्ञस्य किं वाच्यमिति दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति। यद्वा, जगज्जन्मस्थितिलया ईश्वरस्य अवस्थात्रयम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादिसे। परिणाममें दृष्टान्तका व्याख्यान करके विवर्तमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"अस्ति च" इत्यादिसे। प्रथम दृष्टान्तमें उक्त मायावी मायाका उपादान कारण नहीं है, इस अरुचिसे दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। स्वप्नकालमें तो आत्माका स्वप्नके साथ संसर्ग देखा जाता है, इसपर कहते हैं—"प्रबोध" इत्यादि। जाग्रत् और सुषुप्त्यवस्थामें स्वप्नके साथ आत्माका संसर्ग नहीं रहता, इसलिए स्वप्नावस्थामें भी स्वप्नके साथ आत्माका संसर्ग नहीं है, ऐसा अर्थ है। जब अज्ञ जीवका ही अवस्थाओंसे संबन्ध नहीं है, तब सर्वज्ञके बारेमें कहना ही क्या है, ऐसा दार्ष्टान्तिक कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। जगत्की उत्पत्ति,

भाष्य

संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनाऽवभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति। अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥' (गौडपा० कारि० १।१६)

इति। यदुक्तम्—अपीतौ कारणस्याऽपि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इति, एतदयुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तम्—समस्तस्य विभागस्याऽविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत इति। अयमप्यदोषः। दृष्टान्तभावादेव। यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभाग-

भाष्यका अनुवाद

दशाओंसे संस्पृष्ट नहीं होता। जैसे रज्जुका सर्प आदि रूपमें अवभास है, वैसे परमात्माका तीनों अवस्थाओंके स्वरूपमें अवभास होना मायामात्र है। इस विषयमें वेदान्त संप्रदायको जाननेवाले आचार्योंने कहा है—'अनादिमायया सुप्तो०' (जब अनादिमायासे सोया हुआ जीव जागता है, तब जन्म, निद्रा, स्वप्न और द्वैतरहित परमात्माको जानता है)। प्रलयमें कार्यके समान कारणमें भी स्थूलता आदि दोष प्राप्त होंगे, ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त है। उसी प्रकार समस्त विभागका प्रलयकालमें अविभाग होनेपर फिरसे विभागसे उत्पत्तिमें नियम कारण उपपन्न नहीं होता, ऐसा भी जो कहा है, यह भी दोष नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त है ही। जैसे सुषुप्ति, समाधि आदिमें भी

रत्नप्रभा

तदसङ्गित्वे वृद्धसम्मतिमाह—अत्रोक्तमिति। यदा—तत्त्वमसीति उपदेशकाले प्रबुध्यते—मायानिद्रां त्यजति तदा जन्मलयस्थित्यवस्थाशून्यम् अद्वैतमीश्वरम् आत्मत्वेनाऽनुभवति इत्यर्थः। फलितमाह—तत्रेति। द्वितीयम् असामञ्जस्यम् अनूद्य तेनैव सूत्रेण परिहरति—यत्पुनरिति। सुषुप्तौ अज्ञानसत्त्वे पुनर्विभागोत्पत्तौ च

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थिति और लय ईश्वरकी तीन अवस्थाएँ हैं, ईश्वरका अवस्थाओंसे संबन्ध नहीं है, इस विषयमें वृद्धोंकी सम्मति कहते हैं—"अत्रोक्तम्" इत्यादिसे। जब जीव 'तत्त्वमसि' इस उपदेशके समय मायानिद्राको छोड़ देता है, तब उत्पत्ति, नाश, स्थिति रूप तीन अवस्थाओंसे शून्य अद्वितीय ईश्वरका स्वस्वरूपसे अनुभव करता है, ऐसा कारिकाका अर्थ है। "तत्र" इत्यादिसे फलित कहते हैं। दूसरे असामञ्जस्यका अनुवाद करके उसी सूत्रसे उसका परिहार करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है और पुनः विभाग उत्पन्न होता

भाष्य

प्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्याऽनपोदितत्वात् पूर्ववत् पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येव-मिहापि भविष्यति । श्रुतिश्चाऽत्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छा० ६।९।२,३) इति । यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञान-प्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि

भाष्यका अनुवाद

स्वाभाविक अविभाग प्राप्त होनेपर भी मिथ्याज्ञान दूर न होनेसे पुनः प्रबोध होनेपर पूर्वके समान विभाग होता ही है, उसी प्रकार यहां भी होगा। इसमें श्रुति भी है—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य०' (ये सब जीव ब्रह्ममें एक होकर हम ब्रह्ममें एक हुए हैं, ऐसा नहीं जानते। यहां सुषुप्तिके पूर्व प्रबोध समयमें बाघ या सिंह या भेड़िया या शूकर या कीड़े या पतंगे या डांस या मच्छर आदि जो रहता है, सुषुप्तिसे उठनेके बाद वह वही होता है)। जैसे परमात्मामें अविभाग है, तो भी स्थितिकालमें मिथ्याज्ञानसे मिले हुए विभागका व्यवहार स्वप्नके समान अव्याहत देखनेमें आता है, वैसे प्रलयमें भी मिथ्याज्ञानसे

रत्नप्रभा

मानमाह—श्रुतिश्चेति । सति ब्रह्मणि एकीभूय न विदुः इत्यज्ञानोक्तिः, इह सुषुप्तेः प्राक् प्रबोधे येन येन जात्यादिना विभक्ता भवन्ति तदा पुनः उत्थान-काले तथैव भवन्तीति विभागोक्तिः । ननु सुषुप्तौ पुनर्विभागशक्त्यज्ञानसत्त्वेऽपि सर्वप्रलये तत्सत्त्वं कुत इत्यत आह—यथा हीति । यथा सुषुप्तौ परमात्मनि सर्वकार्याणाम् अविभागेऽपि पुनर्विभागहेत्वज्ञानशक्तिरस्ति, एवम् अपीतौ महा-प्रलयेऽपि मिथ्याभूताज्ञानसम्बद्धा पुनः सृष्टिविभागशक्तिः अनुमास्यते । यतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे । ब्रह्ममें एकता प्राप्त करके भी उसे नहीं जानते हैं, इस प्रकार अज्ञानका कथन है, सुषुप्तिके पहले जाग्रदवस्थामें जो जिस जाति आदिसे विभक्त रहते हैं, पुनः सुषुप्तिसे उत्थान कालमें भी वे उसी जाति आदिसे विभक्त होते हैं, इस प्रकार विभागका कथन है । यदि कोई कहे कि सुषुप्तिमें पुनर्विभागकी शक्ति अज्ञानके रहनेपर भी सर्वप्रलयमें वह विभगशक्ति रहती है, इसमें क्या प्रमाण है, इसपर कहते हैं—"यथा हि" इत्यादि । जैसे सुषुप्त्यवस्थामें ब्रह्ममें सब कार्योंका विभाग न रहनेपर भी पुनः विभागहेतु अज्ञान-शक्ति रहती है, उसी प्रकार महाप्रलयमें भी मिथ्याभूत अज्ञानसे संबन्ध रखनेवाली पुनः सृष्टिकी

भाष्य

मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्ति-प्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्याऽपोदितत्वात् । यः पुन-रयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितः—अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणाऽवतिष्ठेत—इति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः। तस्मात् समञ्ज-समिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

मिली हुई विभागशक्तिकी अनुमिति होती है। इससे मुक्तोंकी पुनरुत्पत्तिके प्रसंगका निराकरण हुआ समझना चाहिए, क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश हो गया है। और अन्तमें जो दूसरे विकल्पकी उत्प्रेक्षा की है कि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मके साथ विभक्त ही रहेगा, इसका भी अस्वीकारसे ही प्रतिषेध हुआ है। इससे यह औपनिषद दर्शन समंजस है ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

स्थितौ इदानीं मिथ्याज्ञानकार्यो विभागव्यवहारः तत्त्वबोधाभावात् स्वप्नवद् अ-बाधितो दृश्यते, अतः कार्यदर्शनात् कारणसत्त्वसिद्धिः इत्यर्थः। अज्ञानां जीवानां महाप्रलयेऽपि अज्ञानशक्तिनियमात् पुनर्जन्मनियम इति भावः। **एतेनेति**। जन्मकारणाज्ञानशक्त्यभावेन इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभागशक्तिका अनुमान होता है। चूंकि इस स्थितिकालमें तत्त्वज्ञान न होनेसे मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न विभागव्यवहार स्वप्नके समान अबाधित प्रतीत होता है, इसलिए कार्यज्ञानसे कारणकी सत्ता सिद्ध होती है, ऐसा अर्थ है। अज्ञ जीवोंकी महाप्रलयमें भी अज्ञानशक्ति रहती है, इसलिए उनकी पुनः उत्पत्ति होती है, ऐसा आशय है। "एतेन" अर्थात् उत्पत्तिके कारण-भूत अज्ञानशक्तिके न होनेसे ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च ।

पदार्थोक्ति—स्वपक्षदोषाच्च—साङ्ख्येनोद्भावितानां दोषाणां साङ्ख्यपक्षेऽपि सद्भावात् [दोषपरिहारोपायौ समानौ]।

भाषार्थ—सांख्य ने जो दोष कहे हैं, वे सांख्यमतमें भी हैं, अतः दोष एवं उसके परिहारका उपाय दोनों मतमें समान हैं।

भाष्य

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः। कथमिति? उच्यते—यत्तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम् इति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात् प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्। अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणविभागाभ्युपगमात् तद्वत् प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्

भाष्यका अनुवाद

प्रतिवादीके पक्षमें भी ये दोष साधारण हैं। किस प्रकार? कहते हैं—पीछे जो यह आक्षेप किया गया है कि विलक्षण होनेके कारण यह जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हुआ है, वह आक्षेप प्रधानसे जगत्की उत्पत्ति माननेपर भी समान है, क्योंकि सांख्य शब्द आदिसे रहित प्रधानसे शब्दादियुक्त जगत्की उत्पत्ति मानते हैं। इसीसे—विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति माननेसे उत्पत्तिके पूर्व असत्कार्यवादका प्रसंग समान है। उसी प्रकार प्रलयमें कार्यका कारणसे अभेद माना गया है, अतएव कार्यके धर्मोंका कारणके साथ संबद्ध होना भी समान है। उसी प्रकार जिनके सब विशेष नष्ट हो गये हैं, प्रलयमें कारणके साथ अभेदको प्राप्त हुए उन विकारोंको प्रलयके पूर्व प्रत्येक पुरुषके प्रति यह अमुकका उपादान है, यह

रत्नप्रभा

वैलक्षण्यादीनां सांख्यपक्षेऽपि दोषत्वात् न अस्माभिः तन्निरासप्रयासः कार्य इत्याह—**स्वपक्षेति**। सूत्रं व्याचष्टे—**स्वेति**। प्रादुःष्युः प्रादुर्भवेयुः। **अत एवेति**। सत्यकार्यस्य विरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगात् सांख्यस्यैव अयं दोषो न कार्यमिथ्यात्ववादिनः इति मन्तव्यम्। अपीतौ इति सूत्रोक्तदोषचतुष्टयम् आह—**तथापीताविति**। कार्यवत् प्रधानस्य रूपादिमत्त्वप्रसङ्गः। इदं कर्मादिकम् अस्य उपा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैलक्षण्य आदि दोष सांख्यमतमें भी होते हैं, अतः उनका निराकरण करनेके लिए हमको प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"स्वपक्ष" इत्यादिसे। "स्व" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। प्रादुःष्युः—उत्पन्न होंगे। "अत एव" इत्यादि। सत्य कार्य अपनेसे विरुद्ध कारणरूपसे नहीं रह सकता है, यह दोष सांख्यके मतमें ही है, कार्यको मिथ्या माननेवाले वेदान्तियोंके मतमें नहीं है। 'अपीतौ' सूत्रमें कथित चार दोषोंको कहते हैं—"तथापीतौ" इत्यादिसे। प्रलयमें कार्यको कारणाभिन्न माननेसे कार्यके समान

भाष्य

प्रलयात् प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात्। विनैव च कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः। अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्। ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन् पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

अमुकका, इस प्रकार जो नियत भेद हैं, वे पुनरुत्पत्तिमें उसी प्रकार रहते हैं, ऐसा नियम नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा नियम करनेमें कोई कारण नहीं है। कारणके बिना नियम माना जाय, तो कारणके अभावके समान होनेसे मुक्त भी पुनः बद्ध हो जायंगे। कुछ भेद प्रलयमें अविभागको प्राप्त होते हैं और कुछ नहीं होते, ऐसा कहो, तो जो अविभागको प्राप्त नहीं होते, वे प्रधानके कार्य नहीं होंगे। इस प्रकार ये दोष साधारण होनेसे एक ही पक्षमें लागू नहीं हो सकते, इसलिए सूत्रकार दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि ये हमारे ही मतमें दोष नहीं हैं, क्योंकि वे अवश्य मन्तव्य हैं ॥१०॥

रत्नप्रभा

दानं भोग्यम् अस्य न इत्यनियमः। बद्धमुक्तव्यवस्था च। यदि व्यवस्थार्थं मुक्तानां भेदाः—सङ्घातविशेषाः प्रधाने लीयन्ते बद्धानां भेदास्तु न लीयन्ते इति उच्येत, तर्हि अलीनानां पुरुषवत् कार्यत्वव्याघात इत्यर्थः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानको भी रूपादिसे युक्त मानना होगा। अमुक कर्म अमुकका उपादान है, अमुकका भोग्य है, और अमुकका नहीं है इत्यादि नियम नहीं रहेंगे। बद्ध और मुक्तकी व्यवस्था भी नहीं रहेगी। यदि उस व्यवस्थाके लिए मुक्तोंके भेद—समूहविशेष प्रधानमें लीन होते हैं, और बद्धोंके भेद नहीं लीन होते, ऐसा कहो तो अलीन भेदोंमें पुरुषोंके समान कार्यत्वका व्याघात होगा अर्थात् वे कार्य नहीं हो सकेंगे ॥ १० ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

पदच्छेद—तर्काप्रतिष्ठानात्, अपि, अन्यथा, अनुमेयम्, इति, चेत्, एवम्, अपि, अविमोक्षप्रसङ्गः ।

पदार्थोक्ति—तर्काप्रतिष्ठानादपि—केवलस्य तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वाच्च, [न ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयविरोधः] कस्यचित् तर्कस्याऽप्रतिष्ठितत्वेऽपि, अन्यथा—अप्रतिष्ठिततर्कादन्येन प्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केण, अनुमेयम्—समन्वयविरोधादिकम् [अनुमेयम्], इति चेत्, एवमपि—कस्यचित् तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि, अविमोक्षप्रसङ्गः—प्रकृतविषये तर्कस्य अप्रतिष्ठतत्वदोषादविमोक्षप्रसङ्गः । यद्वा, अविमोक्षप्रसङ्गः—कपिलकणभुगादीनां परस्परविप्रतिपन्नैस्तर्कैः तत्त्वनिर्णयाभावात् संसारादविमोक्षप्रसङ्गः ।

भाषार्थ—केवल तर्ककी प्रतिष्ठा न होनेसे भी ब्रह्ममें वेदान्तवाक्य-समन्वयका कोई विरोध नहीं है । किसी तर्कके अप्रतिष्ठित होनेपर भी अन्य रीतिसे अर्थात् प्रतिष्ठित तर्कसे वेदान्तसमन्वयके विरोधका अनुमान करना चाहिये, यदि ऐसा कहो, तो कुछ तर्कोंके प्रतिष्ठित होनेपर भी प्रकृत विषयमें तर्क अप्रतिष्ठितत्वरूप दोषसे मुक्त नहीं हो सकता । अथवा कपिल, कणाद आदिके परस्पर विरुद्ध तर्कोंसे तत्त्वनिर्णय ही नहीं हो सकता, इसलिए कभी संसारसे मुक्ति ही नहीं हो सकती ।

भाष्य

इतश्च नाऽऽगमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्। तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यै-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी केवल वेदसे जानने योग्य वस्तुमें वेदनिरपेक्ष तर्कसे विरोध करना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रके प्रमाणसे रहित और पुरुष कल्पनामात्रमूलक तर्क अस्थिर होते हैं, क्योंकि कल्पना निरंकुश है । जैसे कि कुछ

रत्नप्रभा

किञ्च, तर्कस्य सम्भावितदोषत्वात् तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयो न बाध्य इत्याह—**तर्काप्रतिष्ठानादपीति** । पुरुषमतीनां विचित्रत्वेऽपि कपिलस्य सर्वज्ञ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किञ्च, तर्कमें दोषोंकी संभावना है, इसलिए तर्कसे दोषरहित वेदान्तोंके समन्वयका बाध नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"तर्काप्रतिष्ठानादपि" इत्यादिसे । पुरुषबुद्धियोंके विचित्र होनेपर

भाष्य

राभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित् प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चाऽन्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येत अन्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाऽप्रतिष्ठादोषो भविष्यति, नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्, एतदपि हि तर्काणा-

भाष्यका अनुवाद

विद्वानोंसे यत्न द्वारा कल्पित तर्क उनसे विशेष विद्वानोंकी दृष्टिमें तर्काभाससे प्रतीत होते हैं, और उनके तर्क उनसे बढ़े चढ़े विद्वानोंकी दृष्टिमें तर्काभाससे प्रतीत होते हैं। इस कारण तर्कोंकी स्थिरता कदापि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पुरुषमति विलक्षण है। यदि किसी प्रसिद्ध माहात्म्यवाले कपिल या किसी अन्यका तर्क प्रतिष्ठित कहो, [तो सो नहीं कह सकते] वह भी अप्रतिष्ठित ही है, क्योंकि जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध समझा गया है, ऐसे शास्त्रकार कपिल, कणाद आदिमें भी परस्पर विप्रतिपत्ति देखी जाती है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार अप्रतिष्ठादोष नहीं आवे, उस प्रकार अन्य रीतिसे हम अनुमान करेंगे, क्योंकि प्रतिष्ठित तर्क है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा

रत्नप्रभा

त्वात् तदीयतर्के विश्वास इति शङ्कते—**अथेति**। 'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा' इति न्यायेन परिहरति—**एवमपीति**। सूत्रमध्यस्थशङ्काभागं व्याचष्टे—**अथोच्येतेति**। विलक्षणत्वादितर्काणाम् अप्रतिष्ठितत्वेऽपि व्याप्तिपक्षधर्मतासम्पन्नः कश्चित् तर्कः प्रतिष्ठितो भविष्यति तेन प्रधानम् अनुमेयमित्यर्थः। ननु सोऽपि अप्रतिष्ठितः तर्कजातीयत्वाद् विलक्षणत्वादिवत् इत्यत आह—**नहीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी कपिलके सर्वज्ञ होनेसे उनके तर्कमें विश्वास रखना चाहिए, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। 'कपिलो यदि०' (यदि कपिल मुनि सर्वज्ञ हैं, तो कणाद मुनि सर्वज्ञ नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है) इस न्यायसे शंकाका परिहार करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। सूत्रगत शंका भागका व्याख्यान करते हैं—"अथोच्येत" इत्यादिसे। विलक्षणत्व आदि तर्क अप्रतिष्ठित होनेपर भी व्याप्ति, पक्षधर्मता आदिसे संपन्न तर्क प्रतिष्ठित है, उससे प्रधानका अनुमान करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि वह तर्क भी अप्रतिष्ठित है, तर्क सजातीय होनेसे, विलक्षणत्व आदि तर्कके समान, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि।

भाष्य

मप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते । केषांचित् तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शने-नाऽन्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात् । सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते । श्रुत्यर्थ-

भाष्यका अनुवाद

जा सकता, तर्कका अप्रतिष्ठितत्व तर्कसे ही ठहराया जाता है, कुछ तर्कोंको अप्रतिष्ठित देखकर तज्जातीय अन्य तर्क भी अप्रतिष्ठित हैं, ऐसी कल्पनाकी जाती है। और सभी तर्कोंके अप्रतिष्ठित होनेपर लोकव्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि भूत और वर्तमान विषयके सादृश्यसे भविष्यत् विषयमें भी सुख प्राप्त करने और दुःखका परिहार करनेमें प्रवृत्त होते हुए लोग देखे

रत्नप्रभा

तर्कजातीयत्वाद् इति तर्कः प्रतिष्ठितो न वा, आद्ये अत्रैव अप्रतिष्ठितत्वसाध्याभावाद् व्यभिचारः । द्वितीयेऽपि न सर्वतर्काणाम् अप्रतिष्ठितत्वं हेत्वभावाद् इत्यभिसन्धिमान् आह—एतदपीति । किञ्च, अनागतपाकः इष्टसाधनम्, पाकत्वाद्, अतीतपाकवत्, इत्यादीष्टानिष्टसाधनानुमानात्मकतर्कस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहार-हेतुत्वात् न अप्रतिष्ठा इत्याह—सर्वतर्केति । अध्वा—विषयः, पाकभोजनादिः विषभक्षणादिश्च तत्सामान्येन पाकत्वादिना अनागतविषये पाकादौ सुखदुःख-हेतुत्वानुमित्या प्रवृत्त्यादिः इत्यर्थः । किञ्च, पूर्वोत्तरमीमांसयोः तर्केणैव वाक्य-तात्पर्यनिर्णयस्य क्रियमाणत्वात् तर्कः प्रतिष्ठित इत्याह—श्रुत्यर्थेति । मनुरपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तर्क सजातीय होनेसे' यह तर्क प्रतिष्ठित है या नहीं ? यदि अप्रतिष्ठित है तो इसीमें अप्रतिष्ठितत्वरूप साध्य न होनेसे व्यभिचार होता है, यदि प्रतिष्ठित है, तो सब तर्कोंमें अप्रतिष्ठितत्वरूप हेतु नहीं है, इस अभिप्रायसे पूर्वपक्षी कहता है—"एतदपि" इत्यादि । और भविष्य पाक इष्ट साधन है, पाक होनेसे, अनुभूत पाकके समान, इत्यादि इष्ट-साधनानुमानरूप तर्क प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि व्यवहारका हेतु है, इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सर्वतर्क" इत्यादिसे । अध्वा—विषय—पाकभोजन, विषभक्षण आदि, पाक आदिमें स्थित पाकत्व आदि हेतुसे भविष्य पाकमें भी सुखहेतुत्व, दुःखहेतुत्व आदिकी अनुमिति होकर उससे प्रवृत्ति आदि होते हैं, ऐसा अर्थ है । और पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसाओंमें तर्कसे ही वाक्यके तात्पर्यका निर्णय किया जाता है, इसलिए तर्क प्रतिष्ठित है, ऐसा कहते हैं—"श्रुत्यर्थ" इत्यादिसे । मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित मानते

भाष्य

विप्रतिपत्तौ चार्थाऽऽभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्ति-निरूपणरूपेण क्रियते । मनुरपि चैवमेव मन्यते—

'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ इति ।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥' (१२।१०५,१०६)

इति च ब्रुवन् । अयमेव च तर्कस्याऽलङ्कारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम । एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति । नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनाऽपि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमा-

भाष्यका अनुवाद

जाते हैं । श्रुतिके अर्थमें विप्रतिपत्ति हो, तो अर्थाभासका निराकरण करके सत्य अर्थका निर्णय वाक्यतात्पर्यका निरूपण करनेवाले तर्कसे ही किया जाता है । 'प्रत्यक्षमनुमानं च०' (धर्मका अधर्मसे भेद जाननेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध संप्रदायोंसे युक्त शास्त्रका भली भाँति मनन करना चाहिए) और 'आर्षं धर्मोपदेशं च०' (ऋषिप्रणीत धर्मोपदेशका वेद और शास्त्रसे अविरुद्ध तर्क द्वारा जो विचार करता है, वह धर्मके यथार्थरूपको जानता है, अन्य नहीं जानता) ऐसा कहते हुए मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित कहते हैं । अप्रतिष्ठित होना तर्कका भूषण है, क्योंकि इस प्रकारसे निन्द्य तर्कका परित्याग करके निर्दुष्ट तर्क स्वीकार किया जाता है । पूर्वजोंके मूढ होनेसे हमको भी मूढ होना चाहिए, इसमें कोई प्रमाण नहीं है ।

रत्नप्रभा

केषाञ्चित् तर्काणां प्रतिष्ठां मन्यते इत्याह—**मनुरिति** । धर्मस्य शुद्धिः अधर्माद् भेदनिर्णयः । कस्यचित् तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वमङ्गीकरोति—**अयमेवेति** । सर्व-तर्काणां प्रतिष्ठायां पूर्वपक्ष एव न स्यादिति भावः । पूर्वपक्षतर्कवत् सिद्धान्त-तर्कोऽपि अप्रतिष्ठितः तर्कत्वाविशेषादिति वदन्तम् उपहसति—**नहीति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा कहते हैं—"मनुः" इत्यादिसे । धर्मकी शुद्धि—अधर्मसे भेदका निश्चय । कुछ तर्कोंको अप्रतिष्ठित मानते हैं—"अयमेव" इत्यादिसे । आशय यह है कि सब तर्कोंकी प्रतिष्ठा होनेपर पूर्वपक्ष ही न हो सकेगा । पूर्वपक्ष तर्कके समान सिद्धान्त तर्क भी अप्रतिष्ठित है, क्योंकि सब तर्कही हैं, ऐसा कहते हुए सिद्धान्तीका सांख्य उपहास करता है—"नहि" इत्यादिसे । कहींपर तर्कके

भाष्य

णम् । तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत् । एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते तथापि प्रकृते तावद् विषये प्रसज्यत एवाऽप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षस्तर्कस्य । नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नाऽनुमानादीनामिति चाऽवोचाम । अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः। तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति ।

भाष्यका अनुवाद

इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा कोई दोष नहीं है, ऐसा कहो, तो तर्क दोषमुक्त नहीं हो सकता । यद्यपि किसी एक विषयमें तर्क प्रतिष्ठित दीखता है, तो भी प्रकृत विषयमें तर्क अप्रतिष्ठितत्व दोषसे विमुक्त नहीं हो सकता । इस अति गंभीर मुक्तिके हेतु कारणकी अद्वितीयताका अवधारण शास्त्रके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादिरहित होनेसे यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभावसे अनुमान आदिका विषय नहीं है, ऐसा भी हम पीछे कह चुके हैं । और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सब मोक्षवादी स्वीकार करते हैं । और वह सम्यग्ज्ञान एकरूप है, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है । सदा एक रूपसे रहनेवाला पदार्थ परमार्थ है और उसका ज्ञान लोकमें सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जैसे कि अग्नि उष्ण है, यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।

रत्नप्रभा

क्वचित् तर्कस्य प्रतिष्ठायामपि जगत्कारणविशेषे तर्कस्य स्वातन्त्र्यं नास्तीति सूत्रशेषं व्याचष्टे—**यद्यपीत्यादिना** । अतिगम्भीरत्वं ब्रह्मणो वेदान्यमानागम्यत्वम् । भावस्य जगत्कारणस्य याथात्म्यम् अद्वयत्वं दर्शयति—**रूपादीति** । अविमोक्षो मुक्त्यभाव इत्यर्थान्तरमाह—**अपि चेत्यादिना** । एकरूपवस्तुज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वेऽपि तर्क-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिष्ठित होनेपर भी जगत्कारणके विषयमें वह स्वतंत्र नहीं है, इस प्रकार सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । अतिगंभीरत्व—ब्रह्मका वेदभिन्न प्रमाणसे अज्ञेयत्व । भावयाथात्म्य—जगत्कारणकी अद्वितीयता । मुक्तिनिबन्धन—मुक्तिका आश्रय । ब्रह्म वेदभिन्न प्रमाणसे ज्ञेय नहीं है, इस बातको दिखलाते हैं—"रूपादि" इत्यादिसे । अविमोक्षपदका मुक्त्यभावरूप अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । एकरूपसे स्थित वस्तुका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होने-

भाष्य

तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात् प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित् तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिष्ठापितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति च प्रसिद्धं लोके । कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् । न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । न च शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्तुं

भाष्यका अनुवाद

ऐसी अवस्थामें सम्यग्ज्ञानके विषयमें पुरुषोंकी विप्रतिपत्ति अयुक्त है । तर्कज्ञानोंमें तो अन्योन्य विरोध होनेसे विप्रतिपत्ति प्रसिद्ध है और यह लोकमें प्रसिद्ध है कि किसी एक तार्किक द्वारा सम्यग्ज्ञानरूपसे निर्णीत तर्कका दूसरा खण्डन कर देता है और दूसरेके द्वारा निर्णीत तर्कका तीसरा खण्डन कर देता है । इसलिए एक रूपसे जिसका विषय अवस्थित न हो, ऐसे तर्कसे उत्पन्न हुआ ज्ञान किस प्रकार सम्यग्ज्ञान हो सकता है । प्रधानवादी तर्कवेत्ताओंमें उत्तम है, ऐसा सब तार्किक नहीं कहते हैं जिससे कि हम उसके मतको सम्यग्ज्ञान मान सकें । और अतीत, अनागत और वर्तमान तार्किक एक देशमें और

रत्नप्रभा

जन्यत्वं किं न स्यात् इत्यत आह—तत्रैवं सतीति । तर्कोत्थज्ञानानां मिथो विप्रतिपत्तेः न सम्यग्ज्ञानत्वं सम्यग्ज्ञाने विप्रतिपत्त्ययोगादित्यर्थः । एकरूपेण अनवस्थितो विषयो यस्य तत् तर्कप्रभवम्, कथं सम्यग्ज्ञानं भवेदिति योजना । ननु सांख्यस्य श्रेष्ठत्वात् तज्ज्ञानं सम्यग् इत्याशङ्क्य हेत्वसिद्धिमाह—न च प्रधानेति । ननु सर्वतार्किकैः मिलित्वा निश्चिततर्कोत्था मतिः मुक्तिहेतुः इत्यत आह—न च

रत्नप्रभाका अनुवाद

पर भी वह तर्कजन्य क्यों नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादि । तर्कसे उत्पन्न ज्ञानोंमें परस्पर विरोध है, इसलिए वे सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते हैं, सम्यग्ज्ञानमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं रहती अर्थात् सम्यग्ज्ञान हों, तो परस्पर विरोध नहीं रहेगा । जिस ज्ञानका विषय एकरूपसे अवस्थित नहीं रहता, वह तर्कजन्य ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे हो सकता है, ऐसी योजना करनी चाहिए । परन्तु सांख्य सर्वापेक्षया श्रेष्ठ है, उसका ज्ञान तो यथार्थ है, ऐसी आशंका कर हेतुकी असिद्धि कहते हैं—"न च प्रधान" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि सब तार्किक मिलकर विचारपूर्वक जिस तर्कको निश्चित करेंगे, उस तर्कसे उत्पन्न ज्ञान मुक्तिका

भाष्य

येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्। वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम्। अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम्। अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत। अत आगमवशेनाऽऽगमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

एक कालमें एकत्र नहीं किये जा सकते, जिससे कि एक अर्थमें उनकी मति एकसी होकर सम्यग्ज्ञान हो सके। वेद तो नित्य है और विज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है, अतः वह व्यवस्थित अर्थका प्रतिपादक है, उससे उत्पन्न हुए ज्ञानकी यथार्थताका अतीत, अनागत और वर्तमानके किसी भी तार्किक द्वारा निषेध नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह उपनिषद्गम्य ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। औपनिषद् ज्ञानको छोड़कर और ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते। इसलिए अन्य ज्ञानोंसे संसारसे मुक्ति नहीं हो सकेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि आगमके बलसे और आगमानुकूल तर्कके बलसे चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है ॥११॥

रत्नप्रभा

शक्यन्त इति। तस्मात् तर्कोत्थज्ञानात् मुक्त्योगात् तर्केण वेदान्तसमन्वयबाधो न युक्तः, तद्बाधे सम्यग्ज्ञानालाभेन अनिर्मोक्षप्रसङ्गाद् इति सूत्रांशार्थम् उपसंहरति—अतोऽन्यत्रेति। समन्वयस्य तर्केणाऽविरोधे फलितमधिकरणार्थमुपसंहरति—अत आगमेति ॥ ११ ॥ (३)

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु हो, इसपर कहते हैं—"न च शक्यन्ते" इत्यादि। अतः तर्कजन्यज्ञानसे मुक्तिके न हो सकनेके कारण तर्कसे वेदान्तसमन्वयका बाध करना उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्तसमन्वयका बाध होनेसे सम्यग्ज्ञान उपपन्न ही नहीं हो सकेगा, इसलिए संसारसे कभी छुटकारा नहीं हो सकेगा, इस प्रकार सूत्रांशके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतोऽन्यत्र" इत्यादिसे। तर्कसे समन्वयका विरोध न होनेपर फलित अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अत आगम" इत्यादिसे ॥ ११ ॥

[४ शिष्टापरिग्रहाधिकरण सू० १२]

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः ।
न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः ॥
शिष्टेष्टापि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु ।
नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो नहि ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—काणाद आदि मतोंसे वेदसमन्वयका बाध होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें देखा गया है कि पट अपनी अपेक्षा अल्प परिमाण तन्तुओंसे उत्पन्न होता है, अतः परममहत्परिमाणवाला ब्रह्म किसी कार्य द्रव्यका कारण नहीं हो सकता । इसलिए काणाद आदि मतोंसे ब्रह्ममें वेदसमन्वयका बाध होता है ।

सिद्धान्त—जब शिष्टसम्मत स्मृति ही निराकृत हो गई, तब शिष्टोंसे वर्जित मतके विषयमें कहना ही क्या है । और विवर्तवादमें यह नियम नहीं है कि कार्यसे कारण अल्प परिमाणवाला होना चाहिए । इसलिए काणाद आदि मतोंसे अद्वैत ब्रह्ममें वेदसमन्वयका बाध नहीं होता है ।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—सांख्य, योगस्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे वेदसमन्वयका बाध भले ही न हो, किन्तु काणाद आदि स्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे तो समन्वयका बाध होना चाहिए, क्योंकि कणाद महर्षि कहते हैं कि परमाणु जगत्कारण हैं, उस विषयमें 'द्व्यणुक आदि अपनी अपेक्षा अल्प परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न हैं, कार्यद्रव्य होनेसे, तन्तुओंसे उत्पन्न पटके समान' इत्यादि युक्तियाँ भी उपस्थित करते हैं । बुद्ध भगवान् विष्णुके अवतार हैं। वे अभावको जगत्का कारण मानते हैं । अपने मतकी पुष्टिके लिए 'भावरूप जगत् अभावसे उत्पन्न है, भावरूप होनेसे, सुषुप्तिपूर्वक स्वप्न प्रपंचके समान' इत्यादि युक्तियाँ भी उपस्थित करते हैं । इसलिए प्रबल काणाद आदि मतोंसे वेदसमन्वयका बाध होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जब वैदिकशिरोमणि पुराणकर्ताओंसे प्रसंगवशात् कहीं कहीं उदाहृत प्रकृति, पुरुष आदिका प्रतिपादन करनेवाली सांख्यस्मृति और योगस्मृति जगत्के कारणके प्रतिपादन-में दुर्बल होनेसे त्याग दी गई हैं, तब अखिल शिष्टोंसे उपेक्षित काणाद आदि मतोंके दौर्बल्यके बारेमें कहना ही क्या है ? ब्राह्म, पाद्म आदि पुराणोंमें कहींपर भी किसी प्रसंगवश भी द्व्यणुक आदि प्रक्रियाका उल्लेख नहीं है । किन्तु इसके विपरीत 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रे-णापि नार्चयेत्' (हेतुवादी और बकवृत्तिवालोंका केवल वाणीसे भी उपचार नहीं करना चाहिए) इत्यादि बहुतसे निन्दावचन मिलते हैं । यह जो कहा है कि कार्यद्रव्य अपनी अपेक्षा न्यून परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न होता है, यह नियम विवर्तवादमें नहीं है, क्योंकि पर्वतके अग्रभागमें रहनेवाले महान् वृक्षोंमें दूरस्थ पुरुषको दूर्वाग्रभागका भ्रम होता है । अभावपूर्वक जगदुत्पत्तिका अनुमान जो कहा गया है, उसमें दृष्टान्तमें साध्य ही नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति तो अवस्था है, अवस्थाओंमें अनुगत सद्रूप आत्माका स्वीकार किया गया है, अतः स्वप्न भी अभावपूर्वक नहीं है । इस कारण काणाद आदि मतोंसे भी वेदसमन्वयका बाध नहीं हो सकता है ।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—एतेन, शिष्टापरिग्रहाः, अपि, व्याख्याताः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—देवलादिशिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतप्रधानवाद-निराकरणेन, शिष्टापरिग्रहाः अपि—शिष्टैः केनाऽप्यंशेनाऽपरिगृहीता अण्वादिकारण-वादा अपि, व्याख्याताः—निरस्ताः [वेदितव्याः] ।

भाषार्थ—देवल आदि शिष्टोंसे किसी अंशमें परिगृहीत प्रधानकारणवादके निराकरणसे शिष्टों द्वारा किसी भी अंशसे अपरिगृहीत अणु आदि कारणवादोंका भी निराकरण समझना चाहिए ।

भाष्य

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद् गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद् वेदानु-

भाष्यका अनुवाद

वैदिकदर्शनके निकटवर्ती होनेसे, अनेक प्रबल तर्कोंसे युक्त होनेसे और

रत्नप्रभा

ब्रह्म जगदुपादानमिति ब्रुवन् वेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं "यद्विभु तन्न द्रव्योपादानम्" इति वैशेषिकादिन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे सांख्यवृद्धानां तर्काकुशलमतित्वेऽपि वैशेषिकादीनां तर्कमतिकुशलत्वप्रसिद्धेः तदीयन्यायस्य अबाधितत्वाद् विरुद्ध्यते इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्तेऽतिदिशति—**एतेनेति** । फलं पूर्ववत् । ननु सांख्यमतस्य उपदेशः तार्किकमतस्य अतिदेशः किमिति कृतः, वैपरीत्यस्यापि सम्भवाद् इत्याशङ्क्य पूर्वोत्तरयोः उपदेशातिदेशभावे कारणमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बतलानेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है । जो विभु—व्यापक है, वह किसी द्रव्यका समवायिकारण नहीं होता, इत्यादि वैशेषिक आदिके न्यायोंसे उस समन्वयका विरोध होता है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर सांख्यवृद्धोंमें तर्ककी प्रवीणता न होनेपर भी वैशेषिक आदिका तर्कज्ञानमें नैपुण्य प्रसिद्ध है, अतः उनके न्याय अबाधित हैं, इसलिए उनके न्यायोंसे समन्वयका विरोध होता है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे । पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके फल पूर्वाधिकरणके समान हैं । परन्तु सांख्यमतका उपदेश और तार्किक मतका अतिदेश कैसे किया है, क्योंकि इसके विपरीतका भी संभव है । ऐसी आशंका करके पूर्वाधिकरणके उपदेश और इस अधिकरणके अतिदेशमें कारण कहते हैं—

भाष्य

सारिभिश्च कैश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात् प्रधानकारणवादं तावद् व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः । इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणाऽपि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्येत इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हण-

भाष्यका अनुवाद

वेदके अनुसारी कुछ शिष्टोंसे किसी एक अंशसे स्वीकृत होनेसे प्रधानकारणवादके आधारपर जो तर्कनिमित्त आक्षेप वेदान्तवाक्योंमें उठाया गया था, उसका परिहार किया जा चुका है। अब अणुवाद आदिके आधारपर भी कुछ मन्दमति फिर भी वेदान्तवाक्यों पर आक्षेपकी आशंका कर सकते हैं, इसलिए

रत्नप्रभा

वैदिकस्येति । सत्कार्यत्वात्मासङ्गत्वस्वप्रकाशत्वाद्यंशैः वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यासन्नः प्रधानवादः शिष्टैः देवलादिभिः सत्कार्यत्वांशेन स्वीकृत इति प्रबलत्वाद् उपदेशः । अण्वादिवादानां निर्मूलत्वेन दुर्बलत्वाद् अतिदेश इति भावः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"वैदिकस्य" इत्यादिसे । आशय यह कि वेदान्तवादके समान प्रधानवाद भी सत्कार्यवाद है, आत्माको असंग और स्वप्रकाश कहता है इत्यादि कुछ अंशोंसे प्रधानवाद वेदान्तवादके समीप है और देवल आदि शिष्टोंने सत्कार्यत्वांशमें उसका स्वीकार भी किया है। इसलिए प्रबल होनेके कारण उसका उपदेश किया है, अणु आदि कारणवाद निर्मूल होनेके कारण

(१) वाद अर्थात् स्वाभिमत अर्थका कथन । यह दो प्रकारका है, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद । सत्कार्यवाद भी दो प्रकारका है परिणामवाद और विवर्तवाद । सांख्य और रामानुजोंका परिणामवाद है । उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है, इसलिए कार्य और कारण अभिन्न हैं और सत्य हैं । जैसे कि दूध दहीके रूपमें परिणत होता है, इसलिए दही कार्यान्तर है और दूधसे भिन्न नहीं है । ब्रह्मवादी वेदान्तियोंका विवर्तवाद है । उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें भासता है, इसलिए कारण ही सत्य है, कार्य सत्य नहीं है । जैसे शुक्तिमें 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अधिष्ठानभूत शुक्तिका ज्ञान होनेसे पूर्वमें ज्ञात रजत निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मका ज्ञान होनेपर जगत् आदि भेदप्रपंच निवृत्त हो जाता है । नैयायिक और माध्वोंका असत्कार्यवाद है । उसको आरम्भवाद भी कहते हैं । उनके मतमें पूर्वमें असत् कार्य उत्पन्न होता है । जैसे कि पहले न रहनेवाले घट आदि कार्य दण्ड, चक्र, कुलाल आदि सामग्रियोंसे युक्त मृत् आदि कारणोंसे भिन्न उत्पन्न होते हैं, इसलिए कार्य और कारण भिन्न हैं । इसी प्रकार योगाचार बौद्धोंका क्षणिक विज्ञानवाद है, माध्यमिक बौद्धोंका शून्यवाद है, आर्हतोंका स्याद्वाद है इत्यादि समझने चाहिएँ ।

भाष्य

न्यायेनातिदिशति। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः, न परिग्रहा अपरिग्रहाः, शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः, एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन, शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः। तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य नात्र पुनराशङ्कितव्यं किञ्चिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्य चाप्रतिष्ठितत्वमन्यथाऽनुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायसे अतिदेश करते हैं। जिनका परिग्रहण किया जाता है, वे परिग्रह कहलाते हैं, जो परिग्रहसे भिन्न हैं, वे अपरिग्रह हैं, जिनका शिष्टों द्वारा परिग्रहण नहीं किया जाता, वे शिष्टापरिग्रह हैं। इससे अर्थात् प्रकृत प्रधानकारणवादके निराकरणके हेतुसे शिष्ट अर्थात् मनु, व्यास आदि द्वारा किसी एक अंशमें भी अस्वीकृत अणु आदि कारणवादोंका खण्डन किया गया, ऐसा समझना चाहिए। निराकरणका कारण समान होनेसे यहां समन्वयपर किसी प्रकारकी आशंका नहीं होती। यहां भी परम गंभीर जगत्कारणकी तर्कसे अगम्यता, तर्कका अप्रतिष्ठितपना, अन्यथा अनुमान करनेपर भी अविमोक्ष और आगमका विरोध, इत्यादि निराकरणके कारण समान हैं ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

किं निराकरणकारणमिति प्रष्टव्यं नास्ति इत्याह—**तुल्यत्वादिति**। कारणमेवाह—**तुल्यमिति**। यदुक्तं विभुत्वात् न द्रव्योपादानं ब्रह्मेति, तत्र पक्षसाधकत्वेन श्रुतेः उपजीव्यत्वात् तया बाधः। महापरिमाणवत्त्वस्य सर्वसंयोगित्वरूपविभुत्वस्य निर्गुणे ब्रह्मणि असिद्धेश्च इति द्रष्टव्यम्। अतः समन्वयस्य तार्किकन्यायेन न विरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ (४)

रत्नप्रभाका अनुवाद

दुर्बल हैं, अतः उनका अतिदेश है। निराकारणका कारण क्या है, यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तुल्यत्वात्" इत्यादिसे। कारण ही कहते हैं—"तुल्यम्" इत्यादिसे। विभु होनेके कारण ब्रह्म द्रव्यका उपादान कारण नहीं हो सकता है, यह जो कहा है, उसका पक्षका साधक होनेके कारण उपजीव्य श्रुतिसे बाध होता है। और परममहत्परिमाण, सर्वसंयोगित्वरूप विभुत्व निर्गुण ब्रह्ममें नहीं, है ऐसा समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि तार्किकन्यायसे समन्वयका विरोध नहीं होता है ॥१२॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—भोक्त्रापत्तेः, अविभागः, चेत, स्यात्, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—भोक्त्रापत्तेः–[अद्वितीयब्रह्मणो जगदुपादानत्वे सर्वस्य ब्रह्मानन्यत्वेन] भोग्यशब्दादीनां भोक्त्रात्मकत्वापत्तेः, अविभागश्चेत्–प्रत्यक्षसिद्धः परस्परविभागो न स्यात्, इति चेत्, लोकवत्–लोके मृदात्मनाऽभिन्नानां घटादीनां परस्परभेदवत् स्यात्—भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्यापि परस्परविभागः स्यात् ।

भाषार्थ—अद्वितीय ब्रह्म यदि जगत्का उपादान हो, तो सब पदार्थ ब्रह्माभिन्न होनेके कारण भोग्य—शब्द आदि विषय भी भोक्तासे अभिन्न हो जायंगे, इससे प्रत्यक्ष-सिद्ध भोक्ता, भोग्य आदि विभाग ही न रहेगा, ऐसा यदि कहो, तो जैसे व्यवहारमें घट आदि कार्य यद्यपि मृत्से अभिन्न हैं, तो भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार कारणसे अभेद होनेपर भी भोक्ता, भोग्य आदि प्रपञ्चका परस्पर विभाग रहेगा ।

[५ भोक्त्रापत्त्यधिकरण सू० १३]

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः ।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥१॥
तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते ।
भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथाऽस्तु तत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—भोक्ता, भोग्य आदि भेदसे अद्वैत बाधित होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भेद अद्वैतका बाधक है ।

सिद्धान्त—जैसे तरङ्ग, फेन आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ समुद्रका भेद नहीं माना जाता, उसी प्रकार भोक्ता, भोग्य आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ ब्रह्मका भेद नहीं है ।

---

*तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—वेदान्तसमन्वयसे प्रतीयमान अद्वैतका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भोक्ता, भोग्य आदि भेदसे बाध होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि एक ही जलका तरङ्ग, फेन आदि रूपसे भेद, समुद्ररूपसे अभेद देखा जाता है, इसलिए भेद और अभेदमें विरोध नहीं है । भेदाभेदविरोधव्यवहार तो आकारभेदसे रहित केवल एक: वस्तुमें भी हो सकता है। इसलिए ब्रह्मरूपसे अद्वैत है और भोक्ता, भोग्य आदिरूपसे द्वैत है, इस प्रकार आकारभेदसे व्यवस्था हो सकती है, अतः बाध नहीं है ।

भाष्य

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते। यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति,

भाष्यका अनुवाद

पुनः अन्य प्रकारसे ब्रह्मकारणवादका तर्कबलसे ही आक्षेप किया जाता है। यद्यपि अपने विषयमें श्रुति प्रमाण है, तो भी जहां अन्य प्रमाणसे उसके विषयका बाध होता है, वहां अन्यविषयक होती है, जैसे कि मंत्र

रत्नप्रभा

अद्वितीयाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गादिवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः। स किं यत् मिथो भिन्नं तत् न अद्वितीयकारणाभिन्नं यथा मृत्तन्तुजौ घटपटौ इति तर्कसहित-भेदप्रत्यक्षादिना विरुध्यते न वा इति सन्देहे ब्रह्मणि तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वेऽपि जगद्भेदे प्रतिष्ठितत्वाद् विरुध्यते इति पूर्वपक्षयति—**भोक्त्रापत्तेरिति**। विरोधाद् अद्वैतासिद्धिः पूर्वपक्षफलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। अनपेक्षश्रुत्या स्वार्थनिर्णयात् तर्केण आक्षेपो न युक्त इत्युक्तम् इति शङ्कते—**यद्यपीति**। मानान्तरायोग्यश्रुत्यर्थे भवत्यनाक्षेपः। यस्तु अद्वितीयब्रह्माभेदाद् भूजलादीनामभेदो ब्रह्मोपादानकत्वश्रुतिविषयः, स "आदित्यो यूपः" इत्यर्थवादार्थवत् मानान्तरयोग्य एवेति द्वैतप्रमाणैः अपह्रियत इति समाधत्ते—**तथापीति**। अन्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वितीय ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति कहनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। जो परस्पर भिन्न हैं, वे अद्वितिय कारणसे अभिन्न नहीं होते हैं, जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न घट और तन्तुसे उत्पन्न वस्त्र, इत्यादि तर्कसहित भेदप्रत्यक्ष आदिसे युक्त वेदान्तसमन्वयका विरोध होता है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर ब्रह्ममें तर्क अप्रतिष्ठित होनेपर भी जगत्‌के भेदमें प्रतिष्ठित होनेके कारण उससे विरोध होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"भोक्त्रापत्तेः" इत्यादिसे। समन्वयके विरोधसे अद्वैतकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, अद्वैतकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है। अन्यानपेक्ष श्रुतिसे अपने अर्थका निर्णय होता है, इसलिए तर्कसे आक्षेप युक्त नहीं है, ऐसा पहले कहा गया है, ऐसी शंका करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। प्रमाणान्तरसे अज्ञेय श्रुत्यर्थके विषयमें आक्षेप नहीं होता है। परन्तु अद्वितीय ब्रह्मके अभेदसे भूमि, जल आदिका अभेद जो ब्रह्मको जगत्‌का उपादान कारण कहनेवाली श्रुतियोंका विषय है, वह 'आदित्यो यूपः' (आदित्य यज्ञस्तम्भ है) इत्यादि अर्थवादके अर्थके समान प्रमाणान्तर योग्य ही है, इसलिए द्वैत प्रमाणोंसे अद्वैत श्रुतिका बाध होता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

भाष्य

यथा मन्त्रार्थवादौ । तर्कोऽपि हि स्वविषयादन्यत्राऽप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः । किमतो यद्येवम्? अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः । कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके–भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया इति, यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति । तस्य च विभागस्याऽभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत । तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद् ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

और अर्थवाद अन्यविषयक होते हैं। तर्क भी स्वविषयसे अन्यत्र अप्रतिष्ठित होता है, जैसे धर्म और अधर्ममें। यदि ऐसा हो, तो इससे क्या? इससे यह अयुक्त है कि अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुति बाध करे। अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुति बाध करती है यह किस प्रकार कहते हो? इसपर कहते हैं—लोकमें यह भोक्तृभोग्यविभाग प्रसिद्ध है, भोक्ता चेतन शारीर है और भोग्य शब्द आदि विषय हैं। जैसे कि देवदत्त भोक्ता है और ओदन भोज्य है। यदि भोक्ता भोग्यभावको प्राप्त हो और भोग्य भोक्तृभावको प्राप्त हो, तो उस विभागका अभाव हो जायगा। और इन दोनोंके परमकारण ब्रह्मसे अभेद होनेके कारण आपसमें भी

रत्नप्रभा

परत्वं गौणार्थकत्वम् । स्वविषये जगद्भेदे तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात् तेनाऽऽक्षेप इत्याह–**तर्कोऽपीति** । तर्कादेः द्वैते प्रामाण्येऽपि ततः समन्वयविरोधे किमायातम् इति शङ्कते–**किमत इति** । पूर्वपक्षी समाधत्ते–**अत इति** । तर्कादेः प्रामाण्याद् द्वैतबाधकत्वं श्रुतेरयुक्तम् इत्यद्वैतसमन्वयबाधो युक्त इत्यर्थः । इममर्थं शङ्कापूर्वकं स्पष्टयति–**कथमित्यादिना** । ननु भोक्तृभोग्ययोः मिथः एकत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तथापि" इत्यादिसे । अन्यपरत्व—गौणार्थक होना । अपने विषय जगत्‌के भेदमें तर्कके प्रतिष्ठित होनेसे उससे आक्षेप होता है, ऐसा कहते हैं—"तर्कोऽपि" इत्यादिसे । तर्क आदि द्वैतमें प्रमाण होनेपर भी उससे समन्वयविरोधमें क्या आया अर्थात् समन्वयका विरोध कैसे हो सकता है, ऐसी शंका करते हैं—"किमतः" इत्यादिसे । पूर्वपक्षी समाधान करता है—"अतः" इत्यादिसे । तर्क आदि प्रमाण होनेके कारण श्रुतिसे द्वैतका बाध करना उचित नहीं है, इसलिए अद्वैतसमन्वयका तर्कसे बाध युक्त है, ऐसा अर्थ है । इसी विषयको शंकापूर्वक स्पष्ट करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । परन्तु भोक्ता और भोग्यका परस्पर अभेद किसने

भाष्य

णोऽनन्यत्वात् प्रसज्येत । न चाऽस्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् ।

भाष्यका अनुवाद

अभेद हो जायगा। इस प्रसिद्ध विभागका बाधित होना युक्त नहीं है। जिस

रत्नप्रभा

केनोक्तमित्याशङ्क्य श्रुतार्थापत्त्या इत्याह--तयोश्चेति । तयोः एकब्रह्माभेदश्रवणाद् एकत्वं कल्प्यते एकस्मादभिन्नयोः भेदे एकस्याऽपि भेदापत्तेः । ततश्च भेदो बाध्येत इत्यर्थः । इष्टापत्तिं वारयति--न चाऽस्येति । श्रुतेः गौणार्थत्वेन सावकाशत्वात् निरवकाशद्वैतमानबाधो न युक्त इत्यर्थः । ननु विभागस्य आधुनिकत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा ? ऐसी आशंका कर यह बात श्रुतार्थापत्ति[1]से सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—"तयोश्च" इत्यादिसे। भोक्ता और भोग्य एक ब्रह्मसे अभिन्न हैं अतः उनमें भी अभेदकी कल्पना होती है, एक पदार्थसे अभिन्न दो पदार्थोंमें यदि भेद हो, तो एक पदार्थका भी भेद हो जायगा, इसलिए भेदका बाध होता है, यह अर्थ है। इष्टापत्तिका निवारण करते हैं—"न चाऽस्य" इत्यादिसे। आशय यह है कि श्रुति गौणार्थक होनेसे सावकाश है, उससे निरवकाश द्वैतप्रमाणका बाध युक्त नहीं है। यदि कोई कहे कि विभाग तो आधुनिक है, इसलिए अनादि

---

१ उपपाद्यके ज्ञानसे उपपादककी कल्पना अर्थापत्ति है। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है, वह उपपाद्य है, जैसे—रात्रि भोजनके बिना दिनमें भोजन न करनेवालेका पीनत्व (मोटाई) अनुपपन्न है, इसलिए वह पीनत्व उपपाद्य है। जिसके न होनेसे जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह उपपादक है, जैसे—रात्रिभोजन न होनेसे उस पीनत्वकी उपपत्ति नहीं होती, इसलिए रात्रिभोजन उस पीनत्वका उपपादक है। अर्थापत्ति दो प्रकारकी है, दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। पुरोवर्ती पदार्थमें पहले ज्ञात होनेवाले रजतका 'यह रजत नहीं है' ऐसा जो उत्तर क्षणमें निषेध होता है, वह रजतकी सत्यतामें अनुपपन्न है, इसलिए उससे रजतके मिथ्यात्वकी कल्पना होती है, यह दृष्टार्थापत्ति है। श्रूयमाण वाक्यके स्वार्थकी अनुपपत्ति द्वारा अन्य अर्थकी जो कल्पना होती है वह श्रुतार्थापत्ति है, जैसे—'तरति शोकमात्मवित्' में श्रुत शोकपदवाच्य बन्धसमूह यदि वस्तुतः है तो उसका ज्ञानसे नाश होना असम्भव है, इसलिए श्रुतिके अर्थकी अनुपपत्ति होगी, इस अनुपपत्तिसे बन्धमें मिथ्यात्वकी कल्पना होती है। यह श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकारकी है—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। जहां वाक्यके एकदेशके श्रवणसे अन्वयाभिधान उपपन्न नहीं होता है, उससे अन्वयाभिधानके उपयोगी पदान्तरकी कल्पना होती है, वहां अभिधानानुपपत्ति होती है। जैसे—'द्वारम्' इस जगह 'पिधेहि' का अध्याहार होता है। जहां वाक्यसे अवगत अर्थ अनुपपन्न ज्ञात होकर अर्थान्तरकी कल्पना करता है, वहां अभिहितानुपपत्ति होती है। जैसे—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादिमें क्षणिक याग कालान्तरभावी स्वर्गका साधन हो, यह अनुपपन्न है, इसलिए मध्यमें अपूर्वकी कल्पना होती है।

भाष्य

यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथाऽतीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात् प्रसिद्धस्याऽस्य भोक्तृभोग्यविभागस्याऽभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम् ।

इति चेत् कश्चिच्चोदयेत् तं प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति । उप-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार वर्तमान कालमें भोक्ता और भोग्यका विभाग देखनेमें आता है, इसी प्रकार अतीत और अनागत कालमें भी कल्पना युक्त है। इसलिए इस प्रसिद्ध भोक्तृभोग्यविभागका अभाव प्रसक्त होनेसे जगत्का ब्रह्म कारण है, यह निपट अयुक्त है।

ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उसके प्रति कहना चाहिए कि—'स्याल्लोकवत्' (लोकके समान विभाग होगा) हमारे पक्षमें विभाग उपपन्न

रत्नप्रभा

अनाद्यद्वैतश्रुत्या बाध इत्यत आह--यथेति । अतीतानागतकालौ भोक्त्रादिविभागाश्रयौ, कालत्वात्, वर्तमानकालवद्, इत्यनुमानाद् विभागोऽनाद्यनन्त इत्यर्थः ।

एवं प्राप्ते परिणामदृष्टान्तेन आपाततः सिद्धान्तमाह--स्याल्लोकवदिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वैतश्रुतिसे बाध होता है, इसपर कहते हैं—"यथा" इत्यादि । तात्पर्य यह है कि अतीत और अनागत काल भोक्ता, भोग्य आदि विभागके आश्रय हैं, काल होनेसे, वर्तमान कालके समान, इस अनुमानसे विभाग भी अनादि एवं अनन्त है । इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर परिणाम दृष्टान्तसे साधारणरूपसे सिद्धान्त[1] कहते हैं—"स्याल्लोकवत्" इत्यादिसे । दृष्टान्तमें

---

(१) सिद्धान्तीका आशय यह है---जैसे तार्किक उपादानकारण कपालरूप द्रव्यसे कार्य घट आदि द्रव्यको भिन्न मानते हैं एवं दोनोंका समवाय संबन्ध मानते हैं, उसी प्रकार सिद्धान्तमें उपादानोपादेयभावस्थलमें दो द्रव्य नहीं माने जाते हैं। किन्तु एक ही मृत्तिकारूप द्रव्य पिंडावस्थारूप धर्मका त्याग कर कम्बुग्रीवादि संस्थानवाला हो जाता है, ऐसा माना जाता है। इसीलिए मृत्पिंड ही घट हुआ ऐसी सामानाधिकरण्य प्रतीति होती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि वाक्योंमें भी "अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । 'आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" (सत्, प्रकाश, प्रिय, नाम और रूप, इस प्रकार पांच अंश हैं, इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं, अवशिष्ट दो जगद्रूप हैं) इस उक्तिके अनुसार जगद्रूपसे अनुप्रविष्ट ब्रह्मरूप धर्मीको लेकर ही अभेद उपपन्न होता है। नाम, रूप, इन अंशोंका ब्रह्मके साथ केवल तादात्म्य है, ऐक्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म और जगत्में सांकर्य नहीं है। यदि कोई कहे कि नाम, रूप, इन अंशोंका स्वरूपके साथ ऐक्य न माननेपर भी जीव और ब्रह्मके स्वरूपैक्य माननेसे सांकर्य होगा, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंका परमार्थमें स्वरूपैक्य होनेपर भी औपाधिक भेद होनेके कारण सांकर्य नहीं होगा ।

भाष्य

पद्यत एवाऽयमस्मत्पक्षेऽपि विभागः, एवं लोके दृष्टत्वात् । तथा हि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभागः इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति, न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति, एवमिहापि न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः न च परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः

भाष्यका अनुवाद

होता ही है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है। जैसे कि उदकस्वरूप समुद्रसे, झाग, बड़ी तरङ्ग, लहर, बुल्बुले आदि विकार अनन्य हैं, तो भी उनका अन्योन्य भेद और संश्लेष आदि व्यवहार उपलब्ध होता है। उदकस्वरूप समुद्रसे फेन, तरंग आदि उसके विकार अनन्य हैं, तो भी उनके अन्योन्यभाव होनेका प्रसंग नहीं होता। वे अन्योन्यभावको प्राप्त न होनेपर भी समुद्रस्वरूपसे अन्य नहीं होते। इसी प्रकार यहां भी भोक्ता और भोग्य अन्योन्यभाव नहीं पावेंगे और ब्रह्मसे अन्य भी नहीं होंगे। यद्यपि भोक्ता ब्रह्मका

रत्नप्रभा

दृष्टान्तेऽपि कथम् एकसमुद्राभिन्नानां परिणामानां मिथो भेदः कथं वा तेषां भेदे सति एकस्मादभिन्नत्वम् इत्याशङ्क्य नहि दृष्टेऽनुपपत्तिः इति न्यायेनाह—न चेति । एवं भोक्तृभोग्ययोः मिथो भेदो ब्रह्माभेदश्च इत्याह—एवमिहेति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वाभावाद् दृष्टान्तवैषम्यमिति शङ्कते—यद्यपीति । औपाधिकं जन्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी एक समुद्रसे अभिन्न परिणामोंका परस्पर भेद किस प्रकार है और वे परस्पर भिन्न हों, तो भी एक समुद्रसे अभिन्न कैसे हैं ? ऐसी आशंका करके 'नहि दृष्टे०' न्यायसे कहते हैं—"न च" इत्यादि। इसी प्रकार भोक्ता और भोग्यमें परस्पर भेद है और ब्रह्माभेद भी है, ऐसा कहते हैं—"एवमिह" इत्यादिसे। जीव ब्रह्मका विकार नहीं है, इसलिए दृष्टान्तविषमता है, ऐसी

(१) प्रत्यक्षविषयमें प्रामाणान्तरके अन्वेषणकी आवश्यकता नहीं होती है, ऐसी विवक्षा जहां होती है, वहां यह न्याय प्रवृत्त होता है। प्रत्यक्ष अन्य सब प्रमाणोंका बाधक है। अनुपपत्ति अर्थापत्तिरूप या व्यतिरेकानुमितिरूप होनेसे प्रत्यक्षबाध्य है। इसलिए प्रत्यक्षविषयमें प्रत्यक्षविरोधिनी अनुपपत्तिका सम्भव नहीं है।

भाष्य

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाऽविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्याऽस्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद् ब्रह्मणाऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

विकार नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) इस प्रकार विकारको प्राप्त न हुए स्रष्टाका ही कार्यमें अनुप्रवेश होनेसे श्रुति उसे भोक्ता कहती है। तो भी जिसने कार्यमें अनुप्रवेश किया है, उसका उपाधिकृत विभाग है, जैसे कि घट आदि उपाधिकृत विभाग आकाशका है। इससे परम कारण ब्रह्मसे अनन्य होनेपर भी भोक्तृभोग्यलक्षण विभाग समुद्रतरंगन्यायसे उपपन्न होता है, ऐसा कहा है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

अस्तीति तरङ्गादिसाम्यमाह--**तथापीति**। विभागः जन्म, यद्वा, तथापीतिशब्देनैव उक्तः परिहारः। ननु भोक्तुः प्रतिदेहं विभागः कथमित्यत आह--**कार्यमनुप्रविष्टस्येति**। औपाधिकविभागे फलितमुपसंहरति--**इत्यत इति**। एकब्रह्माभिन्नत्वेऽपि भोक्त्रादेः तरङ्गादिवद् भेदाङ्गीकारात् न द्वैतमानेन अद्वैतसमन्वयस्य विरोध इत्यर्थः ॥ १३ ॥ (५)

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंका करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। उपाधिनिमित्तक जन्म है, इस विषयमें तरङ्ग आदि दृष्टान्त कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। विभाग—जन्म। अथवा 'तथापि' शब्दसे ही आक्षेपका परिहार कहा गया समझना चाहिए। यदि कोई कहे कि भोक्ता आत्माका प्रतिदेह विभाग कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"कार्यमनुप्रविष्टस्य" इत्यादि। उपाधिनिमित्तक विभाग माननेपर जो फल निकला, उसका उपसंहार करते हैं—"इत्यतः" इत्यादिसे। आशय यह है कि एक ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी भोक्ता, भोग्य आदिमें तरङ्ग, फेन आदिके समान भेद स्वीकार किया गया है, इसलिए द्वैत प्रमाणसे अद्वैत समन्वयका विरोध नहीं है ॥१३॥

[६ आरम्भणाधिकरण सू० १४-२०]

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ ।
समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥१॥
बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ ।
कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—कार्य एवं कारणमें भेद और अभेद पारमार्थिक हैं अथवा व्यावहारिक हैं ?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्र, तरंग आदिके भेद और अभेदमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार उनका कहीं बाध नहीं होता है, अतः पारमार्थिक हैं ।

सिद्धान्त—भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित हैं, इसलिए व्यावहारिक हैं । कार्य कारणसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—लोकमें देखा जाता है कि जिसका बाध नहीं होता वह वस्तु पारमार्थिक होती है, जब एक ही वस्तुका ब्रह्मरूपसे अभेद है और भोक्ता आदि रूपसे भेद है, तो भेद और अभेदमें परस्पर विरोध नहीं है, एक ही वस्तुमें दोनों रह सकते हैं, अतः उनके बाधित न होनेके कारण दोनों पारमार्थिक हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (ब्रह्ममें कुछ भी भेद नहीं है) इस श्रुतिसे भेदका बाध होता है। परस्पर विरोधी भेद और अभेद एकत्र नहीं रह सकते हैं यह युक्ति भी है, क्योंकि एक चन्द्रमा कभी दो नहीं हो सकता । पूर्वाधिकारणमें जो यह कहा गया है कि आकारभेदसे भेद है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अद्वितीय पदार्थमें आकारभेद ही नहीं हो सकता । समुद्र आदिमें तो दोनों देखे जाते हैं, अतः 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्यायसे वहाँ दोनोंका स्वीकार किया जाता है । यदि कहो कि अद्वितीय वस्तुमें भी ब्रह्माकार और जगदाकार देखे जाते हैं, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म शास्त्रैकवेद्य है, प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है । इस कारण भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित होनेसे पारमार्थिक नहीं हैं, किन्तु व्यावहारिक हैं । तब तत्त्व क्या है ? अद्वैत ही तत्त्व है, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, इसलिए केवल कारण ही परमार्थ सत् है । "यथा साम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एवं सोम्य स आदेशः" इत्यादि श्रुति मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे कारणको ही सत्य कहती है । श्रुतिका अर्थ -इस प्रकार है—मृत्पिण्ड कारण है, घट, शराव आदि उसके विकार हैं । यहां मृत्तिका भिन्न है और घट आदि पदार्थ भिन्न हैं, ऐसा तार्किक मानते हैं । घट आदि पृथक् पदार्थ नहीं है, ऐसा समझानेके लिए श्रुति विकार शब्दसे उनका ग्रहण करती है । देवदत्तसे भिन्न वैसे ही घट आदि मृत्तिकाके ही आकारविशेष हैं, मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं। जैसे देवदत्तकी बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाएँ हैं । ऐसी स्थितिमें घटादिके आकारसे प्रतीत होनेपर भी केवल मृत्तिका ही स्वतंत्र पदार्थ है, इसलिए मृत्तिकाके ज्ञान होनेपर उसके विकारभूत घट

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—तदनन्यत्वम्, आरम्भणशब्दादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—तदनन्यत्वम्—कार्यस्य जगतः कारणाद् ब्रह्मणः पृथक्-सत्ताराहित्यम् [कुतः] आरम्भणशब्दादिभ्यः—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिशब्देभ्यः ।

भाषार्थ—कारण ब्रह्मसे कार्य जगत्की पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि वाचारम्भणं विकारो० (विकार केवल वाचारम्भण मात्र है, मृत्तिका ही सत्य है अर्थात् कारण ही सत्य है), 'ऐतदात्म्यमिदं०' (यह सब सद्रूप है, वह सत् सत्य है, वह आत्मा है,) 'ब्रह्मैवेदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि वचनोंसे ऐसा ही प्रतीत होता है ।

भाष्य

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकव-

भाष्यका अनुवाद

इस व्यावहारिक भोक्तृभोग्यलक्षण विभागका स्वीकार करके 'स्याल्लोकवत्'

रत्नप्रभा

पूर्वस्मिन्नेव पूर्वपक्षे विवर्तवादेन मुख्यं समाधानमाह--तदनन्यत्वमिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वाधिकरणमें उक्त पूर्वपक्षका विवर्तवादके आधारपर मुख्य समाधान करते हैं-"तदनन्यत्वम्"

आदिका पारमार्थिक स्वरूप ज्ञात हो जाता है । यदि कहो कि आकारविशेषका ज्ञान नहीं होता है, मत हो, हानि क्या है ? आकार तो कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए उसकी जिज्ञासा करना ही ठीक नहीं है । विकार यद्यपि चक्षुरिन्द्रियसे देखे जाते हैं, तो भी मृत्तिकासे अतिरिक्त उनका कुछ स्वरूप ही नहीं है । यह घट है, यह शराब है, इस प्रकार केवल वागिन्द्रियसे उच्चार्यमाण नाममात्र है । जो वास्तविक स्वरूपवाला न हो, और उपलभ्यमान हो, वह मिथ्या पदार्थ कहलाता है । यह लक्षण विकारोंमें भी है, अतः विकार मिथ्या हैं । मृत्तिकाका तो विकारके बिना भी स्वरूप है, इसलिए वह सत्य है । इसी प्रकार ब्रह्मके विषयमें भी समझना चाहिए, क्योंकि मृत्तिकान्यायकी ब्रह्ममें और घटादिन्यायकी जगत्में योजना हो सकती है । इसलिए जगत् ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है । इस प्रकारके विचारोंसे रहित पुरुषोंके लिए साधारण दृष्टिसे वेदमें प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्मका भी ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भेद भी प्रतीत होता है, इसलिए समुद्रतरंगन्यायसे भेद और अभेद दोनों प्रतीत होते हैं, इसीलए वे केवल व्यावहारिक हैं ।

भाष्य

दिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात् तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः कार्यस्याऽवगम्यते । कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दस्तावत्

भाष्यका अनुवाद

ऐसा परिहार किया गया है, परन्तु यह विभाग वास्तविक नहीं है, क्योंकि वे कार्य और कारण अभिन्न समझे जाते हैं। आकाश आदि बहुत विस्तारवाला जगत् कार्य है और परब्रह्म कारण है। उस कारणसे वास्तवमें कार्यका अनन्यत्व—अभेद समझा जाता है। किससे ? आरम्भणशब्द आदिसे ।

रत्नप्रभा

समानविषयत्वं सङ्गतिं वदन् उभयोः परिहारयोः परिणामविवर्ताश्रयत्वेन अर्थभेदमाह--**अभ्युपगम्येति** । प्रत्यक्षादीनाम् औत्सर्गिकप्रामाण्यमङ्गीकृत्य स्थूलबुद्धिसमाधानार्थं परिणामदृष्टान्तेन भेदाभेदौ उक्तौ। सम्प्रति अङ्गीकृतं प्रामाण्यं तत्त्वावेदकत्वात् प्रच्याव्य व्यावहारिकत्वे स्थाप्यते, तथा च मिथ्याद्वैतग्राहिप्रमाणैः अद्वैतश्रुतेः न बाधः, एकस्यां रज्ज्वां दण्डस्रगादिद्वैतदर्शनाद् इत्ययं मुख्यः परिहार इति भावः । एवम् अद्वैतसमन्वयस्य अविरोधार्थं द्वैतस्य मिथ्यात्वं साधयति—**यस्मात्तयोरिति** । स्वरूपैक्ये कार्यकारणत्वव्याघात इत्यत आह—**व्यतिरेकेणेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । दोनों अधिकरणोंकी समानविषयत्वरूप संगति कहते हुए "अभ्युपगम्य" इत्यादिसे कहते हैं—पूर्वाधिकरणमें वर्णित समाधान परिणामवादके आधारपर और इस अधिकरणमें वर्णित समाधान विवर्तवादके आधारपर किया गया है । इस प्रकार दोनोंमें अर्थभेद है, तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदिका स्वाभाविक प्रामाण्य स्वीकार करके स्थूल बुद्धिवालोंकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए परिणामदृष्टान्तसे भेद और अभेद कहे गये हैं। अब स्वीकृत प्रामाण्यको तत्त्वके प्रतिपादन करनेमें असमर्थ कहकर व्यावहारिक तत्त्वमें स्थापित करते हैं। इसलिए मिथ्याभूत द्वैतके ग्राहक प्रमाणोंसे अद्वैत श्रुतिका बाध नहीं है, क्योंकि एक ही रज्जुमें दंड, माला आदि द्वैतका दर्शन होता है, इसलिए यह मुख्य परिहार है। इस प्रकार अद्वैत समन्वयके अविरोधके लिए द्वैतका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं—"यस्मात्तयोः" इत्यादिसे। स्वरूप एक ही हो, तो कार्यकारणभावका व्याघात हो जायगा, इसपर कहते हैं—"व्यतिरेकेण" इत्यादि ।

भाष्य

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) इति । एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद् विज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते—विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति, न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति, नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद् वाचारम्भणशब्दाद् दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याऽभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोबन्न-

भाष्यका अनुवाद

एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षामें—'यथा सोम्यैकेन०' (हे सोम्य ! जैसे एक मृत्तिकापिण्डसे सब मृत्तिकाविकार ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीके अवलम्बनसे हैं और नाममात्र हैं, मृत्तिका ही सत्य है, इस प्रकार आरम्भण शब्द कहा है। तात्पर्य यह है कि मृत्तिकारूपसे ज्ञात एक मृत्तिकापिंडसे सब मृत्तिकानिर्मित घड़ा, सकोरा, डोल आदि, मृत्तिकास्वरूप होनेसे वस्तुतः विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाचारम्भण विकार केवल नाममात्र है। विकार—घट, शराब और उदञ्चन। विकार वस्तुतः कुछ नहीं है। नामधेयमात्र ये सब असत्य हैं, मृत्तिका ही सत्य है। यह ब्रह्मका दृष्टान्त श्रुतिमें कहा गया है। उस श्रुतिमें कहे गये वाचारम्भणशब्दसे दार्ष्टान्तिकमें भी ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कार्य नहीं है, ऐसा समझा जाता है और श्रुति तेज, जल और अन्न ब्रह्मके कार्य हैं, ऐसा कहकर

रत्नप्रभा

कारणात् पृथक् सत्त्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यमित्यर्थः । वागारभ्यं नाममात्रं विकारो न कारणात् पृथग् अस्ति इत्येवकारार्थ इति श्रुतिं योजयति—**एतदुक्तमिति** । आरम्भणशब्दार्थान्तरमाह—**पुनश्चेति** । अपागाद् अग्नित्वम् अप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणसे कार्यकी पृथक् सत्ता नहीं है, इसको सिद्ध करते हैं, दोनोंकी एकता सिद्ध नहीं करते ऐसा अर्थ है। केवल वाणीसे आरंभ किया जानेवाला विकार नाममात्र है, वह कारणसे पृथक् नहीं है, यह एवकारका अर्थ है, इस प्रकार श्रुतिकी योजना करते हैं—"एतदुक्तम्"

भाष्य

कार्याणां तेजोबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम्। न चाऽन्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते। तस्माद् यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणाऽनुपाख्यत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

तेज, जल और अन्नके कार्योंका तेज, जल और अन्नसे भेदाभाव कहती है—'अपागादग्नेरग्नित्वं०' (अग्निसे अग्नित्व गया, क्योंकि उसका वाणीसे ही आरम्भ किया जाता है, विकार नाममात्र हैं, तीन रूप ही सत्य हैं) इत्यादिसे। 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इसमें आदि शब्दसे 'ऐतदात्म्यमिदं०' (यह सब सद्रूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब प्रपञ्च आत्मा—सद्रूप ही है) 'ब्रह्मैव इदं सर्वम्' यह सब आत्मा ही है), 'नेह नानास्ति किंचन' (ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है), इत्यादि आत्मैकत्वका प्रतिपादन करनेवाले वचन भी उद्धृत करने चाहिएँ। नहीं तो एकविज्ञानसे सर्वज्ञान संपन्न नहीं होगा। इसलिए जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाशसे अभिन्न हैं, जैसे जलसी भासनेवाली मृगतृष्णा ऊषरसे अभिन्न है, क्योंकि उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता

रत्नप्रभा

गतं कारणमात्रत्वात्, त्रीणि तेजोऽबन्नानां रूपाणि रूपतन्मात्रात्मकानि सत्यम्, तेषामपि सन्मात्रत्वात् सदेव शिष्यते इत्यभिप्रायः। जीवजगतोः ब्रह्मान्यत्वे प्रतिज्ञाबाधः। इत्याह--**न चाऽन्यथेति**। तयोः अनन्यत्वे क्रमेण दृष्टान्तौ आह--

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। आरम्भण शब्दका अन्य अर्थ कहते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे। अग्नित्व केवल कारण रूप होनेसे नष्ट हो गया। तेज, जल और अन्नके तीन रूप, रूपतन्मात्र स्वरूप होनेसे सत्य हैं। वे भी केवल सद्रूप हैं अतः सत् ही बाकी रह जाता है, ऐसा अभिप्राय है। जीव और जगत् यदि ब्रह्मसे भिन्न माने जायँ, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा, ऐसा कहते हैं—"न चान्यथा" इत्यादिसे।

भाष्य

एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाऽभाव इति द्रष्टव्यम् ।

नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति च नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवञ्च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति

भाष्यका अनुवाद

है और वे सत्तारहित हैं, उसी प्रकार यह भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपंच ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिए है ।

परन्तु ब्रह्म अनेक स्वरूप है जैसे वृक्ष अनेक शाखायुक्त है वैसेही ब्रह्म अनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्त है । अतः नानात्व अनेकत्व दोनों सत्य ही हैं । जैसे वृक्षस्वरूपसे वृक्ष एक है और शाखास्वरूपसे नाना है । जैसे समुद्र समुद्रस्वरूपसे एक है और फेन, तरंग आदिस्वरूपसे नाना है, जैसे मृत्तिका मृत्तिकास्वरूपसे एक है और घट, शराब आदि स्वरूपसे नाना है, वैसेही ब्रह्मकारण स्वरूपसे एक और कारण जगत् रूपसे अनेक है । उक्त दो अंशोमें एकत्व अंशके ज्ञानसे मोक्षव्यवहार सिद्ध होगा और नानात्व अंशके ज्ञानसे कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे और इसी प्रकार मृत्तिका आदि दृष्टान्त अनुकूल होंगे । ऐसा

रत्नप्रभा

तस्माद्यथेति । प्रतिज्ञाबलाद् इत्यर्थः । दृष्टं प्रातीतिकं नष्टम् अनित्यं यत्स्वरूपं तद्रूपेण अनुपाख्यत्वात् सत्तास्फूर्तिशून्यत्वात् अनन्यत्वमिति सम्बन्धः ।

शुद्धाद्वैतं स्वमतम् उक्त्वा भेदाभेदमतम् उत्थापयति—**नन्विति** । अनेकाभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव और जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, इस विषयमें क्रमसे दृष्टान्त कहते हैं—"तस्माद्यथा" इत्यादिसे । तस्मात्—प्रतिज्ञाके बलसे । कार्यका स्वरूप केवल आभासित होता है और नश्वर है अर्थात् अनित्य है, उसके रूपयुक्त होने एवं सत्ता और स्फूर्ति रहित होनेके कारण कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, ऐसा संबन्ध है ।

अपना मत—शुद्धाद्वैत कह कर भेदाभेद मतको उठाते हैं—"ननु" इत्यादिसे । अनेक

भाष्य

प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकार-जातस्याऽनृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयंप्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्व-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (मृत्तिका ही सत्य है) इस प्रकार दृष्टान्तमें आकृतिमात्रका सत्यरूपसे निर्णय किया है और वाचारम्भण शब्दसे विकार-समूह असत्य कहा गया है, दार्ष्टान्तिकमें भी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (यह सब आत्मस्वरूप है, वह सत्य है) इस प्रकार एक परम कारण ही सत्यरूप-से निश्चित किया गया है। 'स आत्मा०' (हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है) इस प्रकार शारीर ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है। इस जीवका स्वयंसिद्ध जो ब्रह्मात्मत्व है, उसीका उपदेश किया जाता है, अन्य यत्नसे साध्य ब्रह्मात्मत्वका उपदेश नहीं किया जाता। इससे जैसे रज्जु आदिबुद्धि सर्प आदिबुद्धि की

रत्नप्रभा

शक्तिभिः तदधीनप्रवृत्तिभिः—परिणामैः युक्तमित्यर्थः। भेदाभेदमते सर्व-व्यवस्थासिद्धिः अत्यन्ताभेदे द्वैतमानबाध इत्यभिमानः। **नैवं स्यादिति**। एव-कारवाचारम्भणशब्दाभ्यां विकारसत्तानिषेधात् परिणामवादः श्रुतिबाह्य इत्यर्थः। किञ्च, संसारस्य सत्यत्वे तद्विशिष्टस्य जीवस्य ब्रह्मैक्योपदेशो न स्याद् विरोधाद् इत्याह—**स आत्मेति**। एकत्वं ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यम् इत्युपदेशार्थम् इत्याशङ्क्य असीति पदविरोधात् मैवम् इत्याह--**स्वयमिति**। अतः तत्त्वज्ञानबाध्यत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्तियोंसे और उसके अधीनमें रहनेवाली प्रवृत्ति अर्थात् परिणामोंसे युक्त है, ऐसा अर्थ है। भेदाभेदमतमें सब व्यवस्थाओंकी सिद्धि होती है, और अत्यन्त अभेद माननेसे द्वैत प्रमाणोंका बाध होता है, ऐसा समझकर भेदाभेद मतका खण्डन करते हैं—"नैवं स्यात्" इत्यादिसे। 'एवकार और 'वाचारम्भण' शब्दोंसे विकारकी सत्ताका निषेध होता है, इसलिए परिणामवाद श्रुतिबाह्य है, ऐसा तात्पर्य है। और संसार यदि सत्य हो, तो संसारयुक्त जीवका ब्रह्मके साथ अभेदोपदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि विरोध है, ऐसा कहते हैं—"स आत्मा" इत्यादिसे। एकत्व ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे साध्य है, ऐसा उपदेश करनेके लिए ऐक्यका कथन है, ऐसी आशंका कर 'असि' पदके विरोधसे यह बात नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—"स्वयम्" इत्यादिसे। इसलिए तत्त्वज्ञानसे बाधित होनेके कारण संसारित्व

भाष्य

मवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादि-बुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत। दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रिया-कारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याऽभावम्। न चाऽयं व्यवहाराभावोऽवस्था·

भाष्यका अनुवाद

बाधिका होती है, वैसे, यह जो शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्व की अवगति होती है, वह स्वाभाविक शारीरात्मा की बाधिका है। शारीरात्मत्वका बाध होनेपर उसके आश्रित समस्त स्वाभाविक व्यवहार, जिनकी प्रसिद्धिके लिये एकत्वसे अन्य ब्रह्मके नानात्व अंशकी कल्पना करनी पड़े, बाधित हो जाते हैं। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (जिस ज्ञानावस्थामें इसकी सब आत्मा ही हो जाते हैं, वहां किस साधनसे किसको देखे) इत्यादिसे ब्रह्मको ही आत्मा समझनेवालेके प्रति श्रुति क्रिया, कारक और फलस्वरूप समस्त व्यवहारका अभाव दिखलाती है। विशिष्ट

रत्नप्रभा

संसारित्वं मिथ्या इत्याह--अतश्चेति। स्वतस्सिद्धोपदेशाद् इत्यर्थः। यदुक्तं व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति, तत् किं ज्ञानादूर्ध्वं प्राग्वा? नाद्य इत्याह--बाधिते चेति। स्वभावोऽत्र अविद्या, तया कृतः स्वाभाविकः, ज्ञानादूर्ध्वं प्रमातृत्वादि-व्यवहारस्य अभावात् नानात्वं न कल्प्यमित्यर्थः। न द्वितीयः--ज्ञानात् प्राक् कल्पित-नानात्वेन व्यवहारोपपत्तौ नानात्वस्य सत्यत्वासिद्धेः। यत्तु प्रमातृत्वादिव्यवहारः सत्य एव मोक्षावस्थायां निवर्तते इति तन्न इत्याह—न चाऽयमिति। संसारसत्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। अतः—स्वतःसिद्ध वस्तुके उपदेशसे। यह जो पीछे कहा गया है कि व्यवहारके लिए नानात्वको सत्य मानना चाहिए, वह क्या ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तरके व्यवहारके लिए है अथवा तत्पूर्वके व्यवहारके लिए? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"बाधिते च" इत्यादिसे। यहां स्वभावका अर्थ अविद्या है, स्वाभाविक—अविद्यासे कृत। ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर प्रमातृत्व आदि व्यवहार नहीं होते हैं, इसलिए नानात्वकल्पनाकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा अर्थ है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिसे पहले कल्पित नानात्वसे ही व्यवहार उपपन्न हो सकता है, उससे नानात्वकी सत्यता सिद्ध नहीं होती। यह जो कथन है कि प्रमातृत्व आदि व्यवहार सत्य ही है, परन्तु मोक्षावस्थामें निवृत्त हो जाता है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽयम्" इत्यादिसे। संसार यदि सत्य

भाष्य

विशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्याऽनवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्। तस्करदृष्टान्तेन चाऽनृताभिसन्धस्य बन्धनं सत्याभिसन्धस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति [छा० ६।१६] मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्। उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्येत। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य

भाष्यका अनुवाद

अवस्थाके आधारपर यह व्यवहारका अभाव कहा गया है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार जीवका जो ब्रह्मभाव कहा गया है, वह अवस्थाविशेषके आधारपर नहीं कहा गया। और चोरके दृष्टान्तसे मिथ्या भाषण करनेवालेका बन्धन और सत्यभाषीका मोक्ष दिखलानेवाली श्रुति केवल एकत्व ही पारमार्थिक है और नानात्व मिथ्याज्ञानसे कल्पित है, ऐसा दिखलाती है। यदि भेद और अभेद ये दोनों सत्य हों, तो भेदव्यवहार करनेवाला पुरुष असत्यभाषी कैसे कहा जा सकेगा ? 'मृत्योः स०'

रत्नप्रभा

त्वे तदवस्थायां जीवस्य ब्रह्मत्वं न स्यात्, भेदाभेदयोः एकदा एकत्र विरोधात्। अतः असंसारिब्रह्माभेदस्य सदातनत्वावगमात् संसारोऽपि मिथ्यैव इत्यर्थः। किञ्च, यथा लोके कश्चित् तस्करबुद्ध्या भटैः गृहीतः अनृतवादी चेत् तप्तपरशुं गृह्णाति स दह्यते बध्यते च तथा नानात्ववादी बध्यते, सत्यवादी चेत् न दह्यते मुच्यते च। तथा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इत्येकत्वदर्शी मुच्यते इति श्रुतदृष्टान्तेन एकत्वं सत्यम्, नानात्वं मिथ्या इत्याह--**तस्करेति**। व्यवहारगोचरो नानात्वव्यवहा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, तो संसारावस्थामें जीव ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि भेद और अभेद एक समयमें इकट्ठे नहीं रह सकते। इसलिए असंसारी ब्रह्मके साथ जीवका अभेद सदातन प्रतीत होता है अतः संसार भी मिथ्या है, ऐसा तात्पर्य है। और जैसे लोकमें किसी मनुष्यको चोर समझकर राजभट पकड़ लेते हैं, तब वह अपने छुटकारेके लिए तपाये हुए फरसेको हाथमें लेता है, वह यदि अनृतवादी होता है तो उससे जल जाता है और बन्दीगृहमें रक्खा जाता है, उसी प्रकार नानात्ववादी बद्ध होता है, यदि वह सत्यवादी होता है, तो जलता नहीं और मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार यह सब सत्स्वरूप ही है, इस प्रकार एकत्व देखनेवाला मुक्त हो जाता है, श्रुतिमें वर्णित इस दृष्टान्तके अनुसार एकत्व सत्य है, नानात्व मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—"तस्कर" इत्यादिसे। व्यवहारगोचर—नानात्व व्यवहारका आश्रय। श्रुतिमें नानात्वकी निन्दा की

भाष्य

इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति। न चाऽस्मिन् दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनाऽनभ्युपगमात्। उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते। नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात् प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्

भाष्यका अनुवाद

(जो ब्रह्ममें भेद-सा देखता है, वह जन्ममरणपरम्पराको प्राप्त होता है) इस प्रकार भेददृष्टिका निषेध करके श्रुति यही बात सिद्ध करती है। और इस दर्शनमें ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सम्यग् ज्ञानसे निषेध्य कोई मिथ्या ज्ञान संसारका कारण नहीं माना गया है, क्योंकि दोनोंके सत्य होनेपर यह कैसे कहा जा सकता है कि एकत्वज्ञानसे भेदज्ञान दूर होता है। परन्तु केवल एकत्वका ही स्वीकार करें तो भेदके अभावसे प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण निर्विषयक होनेसे बाधित हो जायँगे। जैसे कि

रत्नप्रभा

राश्रयः। नानात्वनिन्दयाऽपि एकत्वमेव सत्यम् इत्याह--**मृत्योरिति**। किञ्च, अस्मिन् भेदाभेदमते जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानाद् भेदज्ञाननिवृत्तेः मुक्तिः इष्टा, सा न युक्ता, भेदज्ञानस्य भ्रमत्वानभ्युपगमात्, प्रमायाः प्रमान्तराबाध्यत्वाद् इत्याह-- **न चाऽस्मिन्निति**। वैपरीत्यस्याऽपि सम्भवाद् इति भावः। इदानीं प्रत्यक्षादिप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या नानात्वस्य सत्यत्वमिति पूर्वपक्षबीजम् उद्घाटयति--**नन्वित्यादिना**। एकत्वस्य एकान्तः—कैवल्यम्, व्याहन्येरन्—न प्रमाणानि स्युः। उपजीव्यप्रत्यक्षादिप्रामाण्याय वेदान्तानां भेदाभेदपरत्वम् उचितमिति भावः। ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

गई है, इससे भी सिद्ध होता है कि एकत्व ही सत्य है, ऐसा कहते हैं—"मृत्योः" इत्यादिसे। और जीवका ब्रह्मके साथ अभेदज्ञान होनेसे अज्ञाननिवृत्ति द्वारा मुक्ति मानी गई है, वह भेदाभेदमतमें ठीक नहीं है, क्योंकि भेदज्ञानको भ्रम नहीं मानते हैं, एक प्रमाज्ञानका अन्य प्रमाज्ञानसे बाध नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽस्मिन्" इत्यादिसे। विपरीत भी हो सकता है, ऐसा तात्पर्य है। अब प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यकी अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए नानात्व सत्य है, इस प्रकार पूर्वपक्षबीजको प्रकाशित करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। एकत्वका एकान्त अर्थात् केवलता। व्याहन्येरन्—अप्रमाण हो जायंगे। उपजीव्य प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यके लिए वेदान्तोंको भेदाभेदपरक मानना उचित है, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु

भाष्य

निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याहन्येत। मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चाऽनृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्याऽऽत्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति। अत्रोच्यते—नैष दोषः, सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव

भाष्यका अनुवाद

स्थाणु आदिमें पुरुष आदिका ज्ञान बाधित हो जाता है। इसी प्रकार भेदकी अपेक्षा रखनेके कारण विधिप्रतिषेधशास्त्र भी भेदके अभावमें बाधित हो जायँगे। मोक्षशास्त्र भी गुरु, शिष्य आदि भेदकी अपेक्षा रखता है, अतः भेदके अभावमें वह बाधित हो जायगा और असत्य मोक्षशास्त्रसे प्रतिपादित आत्मैकत्व सत्य है, यह किस प्रकार उपपन्न हो सकेगा? इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, जैसे जागनेके पूर्व सब स्वप्नव्यवहार सत्य होते हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानके पूर्व सभी व्यवहार सत्य हो सकते हैं। जब तक सत्य आत्मैकत्वप्रतीति नहीं होती, तब तक प्रमाण, प्रमेय और फलरूप विकार असत्य हैं, ऐसी बुद्धि किसीको भी नहीं

रत्नप्रभा

कर्मकारकाणां यजमानादीनां विद्याकारकाणां शिष्यादीनां च कल्पितभेदम् आश्रित्य कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रवृत्तेः स्वप्रमेयस्य धर्मादेः अबाधात् प्रामाण्यम् अव्याहतमित्याशङ्क्य आह—**कथं चाऽनृतेनेति**। धूलिकल्पितधूमेन अनुमितस्य वह्नेरिव प्रमेयबाधापत्तेः इति भावः। तत्र द्वैतविषये प्रत्यक्षादीनां यावद्बाधं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपपद्यते इत्याह—**अत्रोच्यत इत्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यज्ञ आदि कर्म करनेवाले यजमान आदिके और विद्याका अध्ययन करनेवाले शिष्य आदिके कल्पित भेदसे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डकी प्रवृत्ति है, इसलिए अपने प्रमेयभूत धर्म आदिका बाध न होनेसे वेदका प्रामाण्य अव्याहत है, ऐसी शंका करके कहते हैं—"कथं चाऽनृतेन" इत्यादि। आशय यह है कि धूलिमें कल्पित धूमसे अनुमित वह्निके समान प्रमेयका भी बाध हो जायगा। जब तक बाध नहीं होता तब तक प्रत्यक्ष आदिका द्वैतके विषयमें व्यावहारिक प्रामाण्य हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। सत्यत्व—बाधका अभाव।

भाष्य

त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान् भावान् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक् प्रबोधात्, न च प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्। कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ? नहि रज्जुसर्पेण

भाष्यका अनुवाद

होती। स्वाभाविक ब्रह्मात्मताका त्याग करके अविद्यासे सब जन्तु विकारोंमें ही 'मैं,' 'मेरा' इस प्रकार आत्मभाव और आत्मीयभाव रखते हैं, इसलिए ब्रह्मात्मताके ज्ञानके पूर्व सब लौकिक और वैदिक व्यवहार उपपन्न होते हैं। जैसे कि सोता हुआ साधारण मनुष्य स्वप्नमें भिन्न भिन्न पदार्थोंको देखता है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञानको जागनेके पहिले निश्चित ही समझता है। उस समय उनके प्रत्यक्षको आभास नहीं समझता। परन्तु असत्य वेदान्तवाक्योंसे सत्य ब्रह्मात्मत्व ज्ञान कैसे हो सकता है ? क्योंकि रज्जुरूप सर्पसे

रत्नप्रभा

सत्यत्वम्–बाधाभावः, बाधः—मिथ्यात्वनिश्चयः। वस्तुतो मिथ्यात्वेऽपि विकारेषु तन्निश्चयाभावेन प्रत्यक्षादिव्यवहारोपपत्तौ उक्तदृष्टान्तं विवृणोति—**यथा सुप्तस्य प्राकृतस्येति**। एवं द्वैतप्रमाणानां व्यवहारकाले बाधशून्यार्थबोधकत्वं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपपाद्य अद्वैतप्रमाणानां वेदान्तानां सर्वकालेषु बाधशून्यब्रह्मबोधकत्वं तात्त्विकं प्रामाण्यम् उपपादयितुम् उक्तशङ्काम् अनुवदति–**कथं त्वसत्येनेति**। किम् असत्यात् सत्यं न जायते, किमुत सत्यस्य ज्ञानं न ? आद्य इष्ट एव, नहि

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाध—मिथ्यात्वका निश्चय। वस्तुतः मिथ्या होनेपर भी विकारोंमें मिथ्यात्वनिश्चय न होनेके कारण प्रत्यक्ष आदि व्यवहार हो सकता है, इस विषयमें उक्त दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य" इत्यादिसे। इस प्रकार व्यवहारकालमें बाधरहित अर्थबोधकतारूप द्वैतप्रमाणोंके व्यवाहारिक प्रामाण्यका उपपादन करके अद्वैतप्रमाणभूत वेदान्तोंके सब कालोंमें बाधरहित ब्रह्मबोधकतारूप पारमार्थिक प्रामाण्यका उपपादन करनेके लिए पूर्वोक्त शंकाका अनुवाद करते हैं—"कथं त्वसत्येन" इत्यादिसे। क्या असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता है अथवा सत्यका ज्ञान नहीं होता है ? प्रथम पक्ष तो इष्ट ही है, क्योंकि

भाष्य

दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादि प्रयोजनं क्रियत इति। नैष दोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः। स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात् तत्कार्यमप्यनृतमेवेति

भाष्यका अनुवाद

डँसा हुआ नहीं मरता और मृगतृष्णाके जलका पान तथा उससे स्नान आदि नहीं किये जाते। यह दोष नहीं है, क्योंकि विषकी शंका होनेपर मरण आदि कार्य देखे जाते हैं और जो स्वप्नावस्थामें सर्पद्वारा डँसा जाना, जलस्नान आदि कार्य

रत्नप्रभा

वयं वाक्योत्थज्ञानं सत्यमिति अङ्गीकुर्मः। अङ्गीकृत्याऽपि दृष्टान्तमाह—नैष दोष इति। सर्पेण अदष्टस्यापि दष्टत्वभ्रान्तिकल्पितविषात् सत्यमरणमूर्च्छादिदर्शनाद् असत्यात् सत्यं न जायत इति अनियम इत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—स्वप्नेति। असत्यात् सर्पोदकादेः सत्यस्य दंशनस्नानादिज्ञानस्य कार्यस्य दर्शनाद् व्यभिचार

रत्नप्रभाका अनुवाद

हम वाक्योत्पन्न ज्ञानको सत्य नहीं मानते हैं। अङ्गीकार करके भी दृष्टान्त कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। आशय यह है कि सर्पके न काटनेपर भी सर्पने काटा है, इस भ्रान्तिसे कल्पित विषसे पुरुषके सत्य मरण, मूर्छा आदि देखे जाते हैं[1], इसलिए यह कोई नियम नहीं है कि असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता। अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"स्वप्न" इत्यादिसे। असत्य सर्प, जल आदिसे सत्य दंशन, स्नान आदि ज्ञानरूप कार्य देखे जाते हैं, इसलिए

(१) यदि कोई कहे कि अनृतभूत शंकित विष मरणहेतु नहीं है, किन्तु शंका ही मरणहेतु है, शंका तो सत्य है; स्वाप्निक पदार्थका ज्ञान साक्षिरूप है, वह किसी असत्यका कार्य नहीं है, इसलिए अनृतसे सत्यकी उत्पत्ति होती है, इस विषयमें ये दृष्टान्त नहीं हो सकते, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, विषशंका विषके बिना मरणहेतु नहीं हो सकती है, किन्तु विष-विशिष्ट होकर ही मरणहेतु होती है, अन्यथा किसी शंकासे भी मरण होनेका प्रसंग आ जायगा, और मन्द विषकी शंका होती है, तो कुछ भय होता है, तीव्र विषकी शंका होती है, तो तीव्र भय होता है, तीव्रतर विषकी शंका होती है, तो मरण होता है, इस प्रकार विषके उत्कर्ष और अपकर्षसे कार्यमें भी उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाई देते हैं, इसलिए विषविशिष्ट शंका ही कारण है, वह तो असत्य है। यद्यपि स्वप्नमें जो साक्षिरूप ज्ञान होता है, वह नित्य है, तो भी चाक्षुष, स्पार्शन आदि ज्ञान नित्य नहीं हैं, इसलिए स्वप्नमें भी असत्य (स्वप्नमें कल्पित) चक्षु आदि ही कारण हैं। यदि कहो कि तो भी असत्यसे सत्यकी उत्पत्तिमें यह दृष्टान्त नहीं घट सकता, क्योंकि असत्य चक्षु आदिसे उत्पन्न होनेवाले चाक्षुष आदि ज्ञान भी असत्य ही हैं, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस ज्ञानके चाक्षुषत्व आदि धर्मोंके आश्रय साक्षिरूप प्रतीतिका बाध नहीं होता है, इसलिए उस अंशको लेकर प्रतीतिकी सत्यता है ही। इस प्रकार दोनों दृष्टान्त युक्त हैं।

भाष्य

चेद् ब्रूयात्, तत्र ब्रूमः — यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्धस्याऽप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित्। एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्रुतिः—

'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।

भाष्यका अनुवाद

देखे जाते हैं, वे कार्य भी असत्य ही हैं, ऐसा यदि कहो, तो उसपर कहते हैं—यद्यपि स्वप्नावस्थामें पुरुषके सर्पदंश, उदकस्नान आदि कार्य असत्य हैं, तथापि उनका ज्ञानरूप फल सत्य है, क्योंकि जागनेके बाद भी उसका बाध नहीं होता। स्वप्नसे उठा हुआ पुरुष जिन सर्पदंशन, उदकस्नान आदि कार्योंको मिथ्या मानता है, वह उनकी अवगतिको मिथ्या नहीं मानता। इससे अर्थात् स्वप्न देखनेवालेकी अवगतिका बाध न होनेसे, देहमात्र आत्मा है, इस मतका खण्डन हुआ समझना चाहिये। उसी प्रकार 'यदा कर्मसु काम्येषु०'

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। यथाश्रुतम् आदाय शङ्कते—तत्कार्यमपीति। उक्तमर्थं प्रकटयति—तत्र ब्रूम इत्यादिना। अवगतिः वृत्तिः घटादिवत् सत्यापि प्रातिभासिकस्वप्नदृष्टवस्तुनः फलम्, चैतन्यं वा वृत्त्यभिव्यक्तम् अवगतिशब्दार्थः। प्रसङ्गाद् देहात्मवादोऽपि निरस्तः इत्याह—एतेनेति। स्वप्नस्थावगतेः स्वप्नदेहधर्मत्वे उत्थितस्य "मया तादृशः स्वप्नोऽवगतः" इत्यबाधितावगतिप्रतिसन्धानं न स्यात्, अतो देहभेदेऽपि अनुसन्धानदर्शनाद् देहादन्यः अनुसन्धाता इत्यर्थः। असत्यात् सत्यस्य ज्ञानं न जायते इति द्वितीयनियमस्य श्रुत्या व्यभिचारमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यभिचार है, ऐसा अर्थ है। यथाश्रुत अर्थको लेकर शंका करते हैं—"तत्कार्यमपि" इत्यादिसे। उक्त अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं—"तत्र ब्रूमः इत्यादिसे। अवगति—अन्तःकरणकी वृत्ति, वह व्यवहार दशामें घटके तुल्य सत्य ही काल्पनिक स्वप्नमें दृष्ट वस्तुका फल है, अथवा वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही सत्य फल अवगति शब्दका अर्थ है। प्रसंगसे देहात्मवाद—चार्वाक मतका भी निरास हो गया, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। स्वप्नमें होनेवाला ज्ञान यदि स्वप्नदेहका धर्म हो, तो उठनेके अनन्तर पुरुषको 'मुझे अमुक स्वप्न ज्ञात हुआ' इस प्रकार अबाधित ज्ञानका प्रतिसंधान नहीं होगा। इसलिए देहभेद होनेपर भी अनुसंधान दिखाई देनेके कारण देहसे अन्य अनुसंधाता है, ऐसा अर्थ है। असत्यसे सत्यका ज्ञान नहीं होता, इस द्वितीय नियमका व्यभिचार श्रुतिसे दिखलाते

भाष्य

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥' (छा० ५।२।९) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्ने यः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेनाऽसत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईदृशेनाऽसाध्वागमः इति। तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा

भाष्यका अनुवाद

(जब किसी कामनाके लिए कर्म करता हुआ पुरुष स्वप्नमें स्त्रीको देखता है, तब यह समझना चाहिए कि उसके कर्ममें सफलता होगी) यह श्रुति असत्य स्वप्नदर्शनसे सत्य समृद्धिकी प्राप्ति दिखलाती है। इसी प्रकार कितने ही अरिष्ट पदार्थोंका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर 'न चिरमिव०' (चिरकाल तक न जीएगा) ऐसा कहकर 'अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं०' (जो स्वप्नमें कोई काले दांतवाले काले पुरुषको देखता है, तो वह इसको मारता है) इत्यादिसे श्रुति असत्य स्वप्न दर्शनसे ही सत्य मरणकी सूचना करती है। यह लोकमें प्रसिद्ध है कि अन्वय-व्यतिरेकमें कुशल पुरुषोंको—अमुक स्वप्नदर्शनसे शुभप्राप्तिकी सूचना होती है, अमुकसे अशुभ प्राप्तिकी सूचना होती है, ऐसा ज्ञान होता है। इसी प्रकार रेखाओंमें असत्य अक्षरोंके ज्ञानसे अकार आदि सत्य अक्षरोंका ज्ञान होता

रत्नप्रभा

तथा च श्रुतिरिति। न च स्त्रियो मिथ्यात्वेऽपि तद्दर्शनात् सत्यायाः समृद्धेः ज्ञानमिति वाच्यम्, विषयविशिष्टत्वेन दर्शनस्यापि मिथ्यात्वात्, प्रकृतेऽपि सत्ये ब्रह्मणि मिथ्यावेदानुगतचैतन्यात् ज्ञानसम्भवाच्च इति भावः। असत्यात् सत्यस्य इष्टस्य ज्ञानमुक्त्वा अनिष्टस्य ज्ञानमाह—तथेति। असत्यात सत्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथा च श्रुतिः" इत्यादिसे। स्वप्नमें स्त्रीके मिथ्या होनेपर भी उसका दर्शन सत्य है, उस सत्य दर्शनसे ही सत्य समृद्धिका ज्ञान होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविशिष्ट दर्शन भी मिथ्या ही है, प्रकृतमें भी मिथ्याज्ञानमें अनुगत चैतन्यसे सत्य ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, यह तात्पर्य है। असत्यसे सत्यरूप इष्टका ज्ञान कहकर अनिष्टका ज्ञान कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। असत्यसे सत्यका ज्ञान होता है, इस विषयमें अन्य दृष्टान्त कहते

रत्नप्रभा

ज्ञाने दृष्टान्तान्तरम् आह—तथाऽकारादिति। रेखासु अकारत्वादिभ्रान्त्या सत्या अकारादयो ज्ञायन्ते इति प्रसिद्धम् इत्यर्थः। एवम् असत्यात् सत्यस्य जन्मोक्त्या यद् ऽर्थक्रियाकारि तत्सत्यम् इति नियमो भग्नः। अनृतात् सत्यस्य ज्ञानोक्त्या यद् अनृतकारणगम्यम्, तद् बाध्यम्, कूटलिङ्गानुमितवह्निवत् इति व्याप्तिः भग्ना। तथा च कल्पितानामपि वेदान्तानां सत्यब्रह्मबोधकत्वं सम्भवति इति तात्त्विकं प्रामाण्यमिति भावः। यदुक्तम् एकत्वनानात्वव्यवहारसिद्धये उभयं सत्यमिति। तन्न। भेदस्य लोकसिद्धस्य अपूर्वफलवदभेदविरोधेन सत्यत्वकल्पनायोगात्। किञ्च, यदि उभयोरेकदा व्यवहारः स्यात्, तदा स्यादपि सत्यत्वं नैवमस्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथाऽकारादि" इत्यादिसे। रेखाओंमें अकारत्व आदिके भ्रमसे सत्य अकार आदिका ज्ञान होता है, यह प्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है[2]। इस प्रकार असत्यसे सत्यकी उत्पत्ति कहनेसे जो अर्थक्रियाकारक है, वह सत्य है, इस नियमका उच्छेद होता है। असत्यसे सत्यका ज्ञान होता है, इस कथनसे जो असत्य करणोंसे ज्ञात होता है, वह बाध्य है, कूट लिंगोंसे अनुमित वह्निके समान, इस व्याप्तिका भंग होता है। इस प्रकार कल्पित वेदान्त भी सत्य ब्रह्मका बोध करा सकते हैं, इसलिए उनमें पारमार्थिक प्रामाण्य है, यह तात्पर्य है। यह जो कहा है कि एकत्व और नानात्व व्यवहारकी सिद्धिके लिए दोनों सत्य हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोकसिद्ध भेद अपूर्वफलके तुल्य अभेदसे विरुद्ध है, अतः वह सत्य नहीं माना जा सकता। और दोनोंका यदि एक ही समयमें व्यवहार हो, तो सत्य हो भी सके, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्तके

---

(१) लिङ्गज्ञान ही अनुमितिकरण है, ज्ञायमान लिङ्ग अनुमितिकरण नहीं है, इस मतमें शुभाशुभ स्वप्न अनुमापक नहीं हैं। इसलिए स्वप्न भ्रमरूप होनेपर भी उसका ज्ञान प्रमा होनेसे असत्यसे सत्यके ज्ञानकी उत्पत्तिमें यह दृष्टान्त युक्त नहीं हो सकता है, इसलिए अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"तथाकारादि" इत्यादिसे।

(२) रेखासे अकार आदि अक्षरोंकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसा ज्ञान होता है, रेखा ही अक्षर हैं, ऐसा भ्रम तो नहीं होता। यदि पामरोंको होनेवाली रेखा ही अक्षर है, इस प्रतीतिके अनुसार भ्रम माना जाय, तो रेखाक्षरसे अतिरिक्त रेखाक्षर ज्ञानसे जन्य किस सत्य अक्षरकी प्रतीति होगी? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पुस्तकको देखनेवाले पुरुषको रेखाक्षर ज्ञानके बाद रेखाको विषय न करनेवाली जो प्रमारूप पद और वाक्यकी प्रतीति होती है, वह उदाहरणरूपसे विवक्षित है।

वस्तुतस्तु धूलीपटलमें धूमभ्रम होनेके अनन्तर उत्पन्न परामर्शमें जायमान वह्निकी अनुमिति असन्दिग्ध परामर्शसे उत्पन्न होनेपर भी प्रमा होती है और कोई बाधक हो, तो सल्लिंग परामर्शसे उत्पन्न होनेपर भी कांचनमय पर्वत वह्निमान् है, इत्यादि अनुमिति अप्रमा होती है। इसलिए कारणगत प्रमात्व ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, किन्तु बाध अप्रामाण्यका और बाधाभाव प्रामाण्यका प्रयोजक है।

भाष्य

रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चाऽन्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नाऽतः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथा हि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थे आकाङ्क्षा स्यात्, न त्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणाऽवशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत। न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धाऽस्य विजज्ञौ' (छा० ६।१६।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च

भाष्यका अनुवाद

है। और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला यह प्रमाण सब प्रमाणोंमें अन्तिम है, इस एकत्वज्ञानके बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा हो। जैसे लोकमें 'यजेत' (यजन करे) ऐसा कहनेसे, किस फलके लिए, किससे और किस प्रकार ऐसी आकांक्षा होती है, इस प्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा बोध होनेपर कोई आकांक्षा नहीं होती, क्योंकि सर्वात्मा एक ही है, वह इस अवगतिका विषय है। कोई अन्य पदार्थ अवशिष्ट रहे, तो उसकी आकांक्षा हो, किन्तु आत्मैकत्वसे भिन्न अन्य पदार्थ शेष नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा की जाय। यह अवगति उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तद्धास्य०' (पिताके उपदेशसे श्वेतकेतुने आत्मतत्त्व-

रत्नप्रभा

एकत्वज्ञानेन चरमेण अनपेक्षेण नानात्वस्य निश्शेषं बाधात् शुक्तिज्ञानेनेव रजतस्य इत्याह—**अपि चाऽन्त्यमिति**। ननु उपजीव्यद्वैतप्रमाणविरोधात् एकत्वावगतिर्नोत्पद्यते इत्यत आह—**न चेयमिति**। तत् किल आत्मतत्त्वम् अस्य पितुः वाक्यात् श्वेतकेतुः विज्ञातवान् इति ज्ञानोत्पत्तेः श्रुतत्वात्, सामग्रीसत्त्वाच्च इत्यर्थः। व्यावहारिकगुरुशिष्यादिभेदम् उपजीव्य जायमानवाक्यार्थावगतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरपेक्ष एकत्वज्ञानसे नानात्वका निःशेष बाध हो जाता है, जैसे कि शुक्तिज्ञानसे रजतका बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि चान्त्यम्" इत्यादिसे। परन्तु उपजीव्य द्वैत प्रमाणसे विरोध होनेके कारण एकत्वज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है, इसपर कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादि। अपने पिताके वाक्यसे श्वेतकेतुने आत्मतत्त्वको जाना, इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति श्रुतिमें कही गई है और ज्ञानोत्पत्तिकी सामग्रियां भी हैं, यह तात्पर्य है। व्यावहारिक गुरु,

भाष्य

श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात् । न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्, अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तरा-

भाष्यका अनुवाद

को यथार्थरूपसे जाना) इत्यादि श्रुतियां हैं । और श्रवण आदि अवगति-के साधन एवं वेदके पठन आदिका विधान है । और यह अवगति प्रयोजन-रहित है या भ्रान्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अविद्या-

---

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षादिगतं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपजीव्यम्, तच्च पारमार्थिकैकत्वावगत्या न विरुध्यते, किन्तु तया विरोधानुपजीव्यं प्रत्यक्षादेः तात्त्विकं प्रामाण्यं बाध्यते इति भावः । किञ्च, एकत्वावगतेः फलवत्प्रमात्वात् निष्फलो द्वैतभ्रमो बाध्य इत्याह— **न चेयमिति** । ननु सर्वस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वे स्वप्नो मिथ्या जाग्रत् सत्यमित्यादि-लौकिको व्यवहारः सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत् इति वैदिकश्च कथम् इति आशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

शिष्य आदि भेदका आश्रय करके होनेवाले वाक्यार्थज्ञानमें प्रत्यक्षादिगत व्यावहारिक प्रामाण्य उपजीव्य है, वह पारमार्थिक एकत्वज्ञानसे विरुद्ध नहीं है, किन्तु उससे विरोधका अनुपजीव्य प्रत्यक्षादिगत पारमार्थिक प्रामाण्यका बाध होता है, ऐसा आशय है । और एकत्वावगति सफल यथार्थज्ञान है, उससे निष्फल द्वैतभ्रमका बाध होता है, ऐसा कहते हैं— "न चेयम्" इत्यादिसे । यदि सब द्वैत मिथ्या हों, तो स्वप्न मिथ्या है, जाग्रत् सत्य है, इत्यादि लौकिक व्यवहार और 'सत्यं चानृतं च०' (सत्य और असत्य सब सत्य ब्रह्म ही है)

---

(१) यदि कोई कहे कि निष्प्रपंच, चैतन्यमात्र परमार्थ है, ऐसा जो वेदान्तोंमें प्रतिपादित है, उसका भी सर्वशून्यताप्रतिपादक अवैदिक आगमसे बाध-सा प्रतीत होता ही है । सर्व-शून्यताप्रतिपादक आगम पौरुषेय होनेसे दोषमूलक हो सकता है, इसलिए दुर्बल है, उससे निर्दोष, अपौरुषेय वेदप्रतिपाद्य अर्थका बाध नहीं होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सब प्रपंच अविद्यात्मकदोषमूलक है, इस मतमें वेद भी प्रपंचान्तर्गत होनेके कारण दोषमूलक है, इस प्रकार दोनोंमें दोषमूलकत्व समान है, अतः बाधक ज्ञानान्तर है । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्यमात्र परमार्थ है, जड़समूह उस चैतन्यमें अध्यस्त है, एवं अनृत है, यह वेदान्तोंका अर्थ है । इस अर्थका उपपादक होनेसे ही प्रपञ्च अविद्यानामकदोषमूलक है, ऐसी कल्पना की जाती है, क्योंकि असत्य शुक्तिरजत आदि दोषमूलक देखे जाते हैं । वेदान्तार्थके ज्ञानके पहले ही प्रपंच दोषमूलक है, यह ज्ञान नहीं होता है । इसलिए वेदान्तार्थके प्रामाण्यके उपपादनके लिए कल्प्यमान दोषमूलताकी उस प्रकार कल्पना होगी, जैसे प्रामाण्यका बाध न हो, जैसे कि स्वर्ग और यागमें साध्यसाधनभावके निर्वाहके लिए कल्प्यमान अपूर्वकी व्यापारविधया कल्पना की जाती है । दोष

भाष्य

भावाच्च। प्राक्चाऽऽत्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम। तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नाऽनेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति। ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याऽभिमतमिति गम्यते, परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति।

भाष्यका अनुवाद

निवृत्तिरूप फल देखा जाता है और अन्य कोई बाधक ज्ञान भी नहीं है। आत्मैकत्वकी अवगतिके पूर्व सत्य और अनृत, लौकिक और वैदिक सब व्यवहार ज्योंके त्यों रहते हैं ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। सर्वोत्कृष्ट प्रमाणसे आत्मैकत्वका प्रतिपादन होनेपर पूर्वके समस्त भेदव्यवहार बाधित हो जाते हैं, अतः अनेकस्वरूपवाले ब्रह्मकी कल्पनाके लिए अवकाश नहीं है। परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्त दिये हैं, उनसे परिणामयुक्त ब्रह्म शास्त्रका अभिमत है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि लोकमें मृत्तिका आदि पदार्थ परि-

रत्नप्रभा

यथा स्वप्ने इदं सत्यम् इदम् अनृतमिति तात्कालिकबाधाबाधाभ्यां व्यवहारः, तथा दीर्घस्वप्नेऽपि इति उक्तस्वप्नदृष्टान्तं स्मारयति—**प्राक्चेति**। व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति कल्पनम् असङ्गतम् इत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। नेदं कल्पितं किन्तु श्रुतम् इति शङ्कते—**नन्विति**। कार्यकारणयोः अनन्यत्वांशे अयं दृष्टान्तः, न परिणामित्वे ब्रह्मणः कूटस्थत्वश्रुतिविरोधाद् इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि वैदिक व्यवहार कैसे उपपन्न होते हैं, ऐसी आशंका कर जैसे स्वप्नमें यह सत्य है, यह असत्य है, इस प्रकार तत्कालजन्य बाध और बाधाभावसे व्यवहार होता है, उसी प्रकार दीर्घ स्वप्नमें भी है, ऐसा पूर्वकथित दृष्टान्तका स्मरण कराते हैं—"प्राक् च" इत्यादिसे। व्यवहारके लिए नानात्वके सत्यत्वकी कल्पना असंगत है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। यह कल्पित नहीं है, किन्तु श्रुत्युक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। कार्य और कारण अभिन्न हैं, इस विषयमें यह दृष्टान्त है, परिणामित्वमें नहीं, क्योंकि ब्रह्मको

बहुविध हैं। उनमें अविद्याख्य दोष असंग चैतन्यमें प्रपंचका केवल आरोप करता है, वेदान्तजन्य ज्ञानमें बाधितार्थत्वका आपादन नहीं करता, क्योंकि उसकी उसी प्रकार कल्पना की जाती है। इसलिए अप्रमाणभूत शून्यवादसे प्रमाणभूत वेदान्तार्थका बाध नहीं होता।

भाष्य

नेत्युच्यते, 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।५।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। नह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्। स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत्। न। कूटस्थस्येति विशेषणात्। नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

णामयुक्त उपलब्ध होते हैं। नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'स वा एष महानज०' (यह आत्मा महान्, जन्मरहित, जरारहित, मरणरहित, अमृत, अभय ब्रह्म है) 'स एष नेति०' (यह नहीं, इस प्रकार अन्यके निषेध द्वारा मधुकांडमें आत्मा निर्दिष्ट है) 'अस्थूल०' (स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं) इत्यादि सब विक्रियाओंका प्रतिषेध करनेवाली श्रुतियोंसे ब्रह्म कूटस्थ है, ऐसा समझा जाता है। एक ही ब्रह्म परिणामी और परिणामरहित नहीं माना जा सकता। स्थिति और गतिके समान होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'कूटस्थस्य' (कूटस्थका) ऐसा विशेषण है। कूटस्थ ब्रह्म स्थिति और गतिके समान अनेक धर्मोंका आश्रय हो, यह नहीं हो सकता, ब्रह्म कूटस्थ और नित्य है, क्योंकि सब विक्रियाओंका

रत्नप्रभा

नेत्युच्यत इति। सृष्टौ परिणामित्वम्, प्रलये तद्राहित्यं च क्रमेण अविरुद्धम् इति दृष्टान्तेन शङ्कते—स्थितीति। कूटस्थस्य कदाचिदपि विक्रिया न युक्ता, कूटस्थत्वव्याघाताद् इत्याह—नेति। कूटस्थत्वासिद्धिम् आशङ्क्य आह—कूटस्थस्येति। कूटस्थस्य निरवयवस्य पूर्वरूपत्यागेन अवस्थान्तरात्मकपरिणाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कूटस्थ कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होता है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे। सृष्टिकालमें ब्रह्म परिणामधर्मवाला है, प्रलयमें उस धर्मसे रहित है, इस प्रकार दोनों क्रमसे होनेके कारण अविरुद्ध हैं, दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक ऐसी शंका करते हैं—"स्थिति" इत्यादिसे। कूटस्थका कभी विकार नहीं हो सकता है, यदि हो जाय तो कूटस्थत्वका ही व्याघात हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। कूटस्थत्वकी असिद्धिकी आशंका करके कहते हैं—"कूटस्थस्य" इत्यादि। आशय यह कि अवयवरहित कूटस्थका पूर्वरूपके परित्यागसे रूपान्तर-प्राप्तिरूप परिणाम नहीं हो सकता है, इसलिए प्रपंच शुक्तिरजतके समान विवर्त ही है। और

भाष्य

सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम। न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित् फलायाऽभिप्रेयते, प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत् सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत् तत्राऽफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद् ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रम् फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात् परिणामवत्त्वमात्मनः फलं

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध है, ऐसा हमने कहा है। और जैसे ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है यह ज्ञान मोक्षका साधन है, वैसे ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत होता है, यह ज्ञान स्वतंत्र ही किसी भी फलके लिये अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, इस विज्ञानसे ही 'स एष नेति नेत्यात्मा' (नहीं, नहीं, ऐसा जो [चतुर्थ मधुकांडमें निर्दिष्ट है] वह आत्मा है) ऐसा उपक्रमकरके 'अभयं वै' (हे जनक तुम! अभयको प्राप्त हुए हो) इत्यादि शास्त्र फल दिखलाता है। यहां यह सिद्ध है—ब्रह्मप्रकरणमें सर्वधर्मविशेषरहित ब्रह्मके ज्ञानसे ही फलसिद्धि होती है, इसलिए वहां जो ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत होता है, इत्यादि अफल रूपसे प्रतिपादित है, उसका ब्रह्मदर्शनके उपायरूपसे ही विनियोग है, जैसे कि फलवालेकी संनिधिमें अफल उसका अंग होता है, परन्तु स्वतंत्र रूपसे फल देनेके लिए उसकी कल्पना नहीं की जाती। निश्चय, ब्रह्म परिणामवाला है,

रत्नप्रभा

योगात् शुक्तिरजतवद् विवर्त एव प्रपञ्च इति भावः। किञ्च, निष्फलस्य जगतः फलवन्निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन अनुवादात् न सत्यता इत्याह—न च यथेत्यादिना। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ब्रह्मणः परिणामित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सफल प्रपंच रहित ब्रह्मज्ञानके अंगरूपसे निष्फल जगत्का अनुवाद है, इसलिए जगत् सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च यथा" इत्यादिसे। 'तं यथा यथोपासते०' (ब्रह्मकी जिस जिस रूपसे उपासना करता है, उसी रूपको प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि ब्रह्म परिणामी है, अतः वह परिणाम ही विद्वानको फल प्राप्त होता है, ऐसी आशंका कर कहते हैं—

भाष्य

स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य। ननु ब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्, न; अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थिति-प्रलयाः, नाऽचेतनात् प्रधानादन्यस्माद् वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्मा-

भाष्यका अनुवाद

इस विज्ञानसे आत्मा परिणामवाला है, यह फल होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्ष कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, ऐसा जिसका मत है, उसके मतमें अव्यभिचरित एकत्व होनेसे ईशिता[1] और ईशितव्य[2]का अभाव होनेसे ईश्वर जगत्कारण है, इस प्रतिज्ञासे विरोध होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वज्ञत्वको अविद्यात्मक नाम और रूप बीजके स्पष्टीकरण करनेकी अपेक्षा है, 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि वाक्योंसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त, ईश्वरसे जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलय होते हैं, अचेतन प्रधानसे या अन्यसे नहीं, इस

रत्नप्रभा

विज्ञानात् तत्प्राप्तिः विदुषः फलम् इति आशङ्क्य आह—**नहि परिणामवत्त्वेति**। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २।१।१) इति श्रुतकूटस्थनित्यमोक्षफलसंभवे दुःखानित्यपरिणामित्वफलकल्पनायोगाद् इति भावः। ननु पूर्वं "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इति ईश्वरकारणप्रतिज्ञा कृता अधुना "तदनन्य-त्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्यन्ताभेदप्रतिपादने ईशि-त्रीशितव्यभेदाभावात् तद्विरोधः स्याद् इति शङ्कते—**कूटस्थेति**। कल्पितद्वैतम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नहि परिणामवत्त्व" इत्यादि। 'ब्रह्मविदाप्नोति०' (ब्रह्मवेत्ता पर ब्रह्मको प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे कथित कूटस्थ, नित्य मोक्षरूप फलका संभव है तो दुःख, अनित्य, परिणामी रूप फलकी कल्पना उचित नहीं है, ऐसा आशय है। परन्तु पहले 'जन्माद्यस्य यतः' से ईश्वर कारण है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, अब 'तदनन्यत्व०' सूत्रसे अत्यन्त अभेदका प्रतिपादन करनेसे ईशिता और ईशितव्यमें कोई भेद न होनेसे उस प्रतिज्ञाका विरोध होगा, ऐसी शंका करते हैं—"कूटस्थ" इत्यादिसे। कल्पित द्वैतकी अपेक्षासे ईश्वरत्व आदि कहे गये हैं, परमार्थतः अभेद है, इस प्रकार अविरोध कहते हैं—"न" इत्यादिसे। जीवात्मक,

१ नियम में रखनेवाला। २ नियम्य, जिसको नियममें रक्खा जाय।

भाष्य

द्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।४) इति । सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते । कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता ? शृणु यथा नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्याऽऽत्मभूत इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म'

भाष्यका अनुवाद

अर्थकी 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें प्रतिज्ञा की गई है । वह प्रतिज्ञा वैसी ही है, यहां उससे कुछ विरुद्ध नहीं कहा जाता । आत्मा अत्यन्त एक और अद्वितीय है, ऐसा तुम्हारे प्रतिपादन करनेसे यह कथन विरुद्ध क्यों नहीं है ? ऐसा यदि कहो तो सुनो, सर्वज्ञ ईश्वरके आत्मभूतसे, अविद्यासे कल्पित, तत्त्व या अन्यत्वसे अनिर्वचनीय एवं संसाररूप प्रपंचके बीजभूत नाम और रूप सर्वज्ञ ईश्वरकी मायाशक्ति और प्रकृतिरूपसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये हैं । उन दोनोंसे भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि 'आकाशो वै नाम०' (आकाश—आत्मा नाम और रूपका व्याकरण—निर्माण करनेवाला है, ये दोनों

रत्नप्रभा

अपेक्ष्य ईश्वरत्वादिकं परमार्थतः अनन्यत्वमिति अविरोधमाह—**नेत्यादिना** । अविद्यात्मके चिदात्मनि लीने नामरूपे एव बीजम्, तस्य व्याकरणं स्थूलात्मना सृष्टिः, तदपेक्षत्वाद् ईश्वरत्वादेः न विरोध इत्यर्थः । संगृहीतार्थं विवृणोति—**तस्मादित्यादिना** । **तत्त्वान्यत्वाभ्यामिति** । नामरूपयोः ईश्वरत्वं वक्तुमशक्यम्, जडत्वात्; नापि ईश्वराद् अन्यत्वम्, कल्पितस्य पृथक् सत्तास्फूर्त्योः अभावाद् इत्यर्थः। संस्कारात्मकनामरूपयोः अविद्यैक्यविवक्षया ब्रूते—**मायेति** । नामरूपे चेद् ईश्वरस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

चिदात्मामें लीन नाम और रूप ही बीज हैं, नाम और रूपका व्याकरण—स्थूलरूपसे सृष्टि, उसकी अपेक्षासे ईश्वरत्व आदि है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है । संगृहीत अर्थका विवरण करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । "तत्त्वान्यत्वाभ्याम्" इत्यादि । नाम और रूपको ईश्वर नहीं कह सकते, क्योंकि वे जड हैं, ईश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि कल्पित पदार्थकी अधिष्ठानसे पृथक् सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती, यह अर्थ है । संस्कारात्मक नाम और रूपको अविद्यासे अभिन्न कहते हैं—"माया" इत्यादिसे । यदि नाम और रूप ईश्वरके

भाष्य

(छा० ८।१४।१) इति श्रुतेः। नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि। स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये। तदेवमविद्यात्मकोपाधिप-

भाष्यका अनुवाद

जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है) ऐसी श्रुति है, और 'नामरूपे व्याकरवाणि' (मैं नाम और रूपको व्यक्त करूँगा,) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य०' (धीर—परमात्मा ही सब रूपोंको उत्पन्न करके सबका नाम रखकर और उनमें प्रविष्ट होकर बोलना-चालना आदि व्यवहारोंको करता हुआ स्थित है। 'एकं बीजं बहुधा०' (एक बीजको जो बहुधा करता है) इत्यादि श्रुतियां हैं। इस प्रकार अविद्याजन्य नामरूप उपाधिका अनुरोधी ईश्वर होता है, जैसे कि घट करक आदि उपाधियोंका अनुरोधी आकाश होता है, और घटाकाशसदृश अविद्या द्वारा उत्थापित नाम और रूपसे किये हुये कार्यकारण संघातका अनुरोधी स्वात्मभूत जीवसंज्ञक विज्ञानात्माके ऊपर ही व्यवहारके विषयमें शासन करता है। इसलिये इस प्रकार अविद्यारूप उपाधिके परिच्छेदको

रत्नप्रभा

आत्मभूते, तर्हि ईश्वरो जड इत्यत आह—**ताभ्यामन्य इ त**। अन्यत्वे व्याकरणे च श्रुतिमाह—**आकाश इत्यादिना**। अविद्याद्युपाधिना कल्पितभेदेन बिम्बस्थानस्य ईश्वरत्वम्, प्रतिबिम्बभूतानां जीवानां नियम्यत्वम् इत्याह—**स च स्वात्मभूतानिति**। न चाऽत्र नानाजीवा भाष्योक्ता इति भ्रमितव्यम्, बुद्ध्यादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वरूप हों, तो ईश्वर जड़ है, इसपर कहते हैं—"ताभ्यामन्यः" इत्यादि। ईश्वर नाम और रूपसे भिन्न है, नाम और रूपकी सृष्टि होती है, इस विषयमें श्रुति कहते हैं—"आकाश" इत्यादिसे। अविद्या आदि उपाधि द्वारा कल्पित भेदसे बिम्बस्थानीय ईश्वर है, प्रतिबिम्बभूत जीव नियम्य हैं, ऐसा कहते हैं—"स च स्वात्मभूतान्" इत्यादिसे। यहां भाष्यमें नाना जीव कहे गये हैं, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि बुद्धि आदिके समूहके भेदसे जीवोंका भेद कहा गया है, अविद्याप्रतिबिम्ब जीव तो एक ही है, यह कहा गया है। परमार्थमें तो ईश्वर आदि

भाष्य

रिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। तथा चोक्तम्—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च। एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। तथेश्वरगीतास्वपि—

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

भाष्यका अनुवाद

से ही ईश्वरका ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व है, परमार्थतः विद्या द्वारा सब उपाधियोंसे रहित आत्मामें ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि सब व्यवहार उपपन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार कहा है—'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें किसी दूसरेको नहीं देखता, किसी दूसरेको नहीं सुनता, किसी दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा—ब्रह्म है) और 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (जिस कालमें इसका सब आत्मा ही हो गया, उस कालमें किससे किसको देखे) इत्यादिसे। इस प्रकार पारमार्थ अवस्थामें सब वेदान्त सब व्यवहारोंका अभाव कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् गीतामें भी—'न कर्तृत्वं न कर्माणि' (प्रभु लोकोंका कर्तृत्व या कर्म अथवा कर्मफलका संयोग उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वभाव (माया) प्रवृत्त होता है। विभु किसीके पाप या पुण्यका

रत्नप्रभा

संघातभेदेन भेदोक्तेः, अविद्याप्रतिबिम्बस्तु एक एव जीव इत्युक्तम्। परमार्थत ईश्वरत्वादिद्वैताभावे श्रुतिमाह—**तथा चेति**। कथं तर्हि कर्तृत्वादिकम् इत्यत आह—**स्वभावस्त्विति**। अनाद्यविद्यैव कर्तृत्वादिरूपेण प्रवर्तते इत्यर्थः। भक्ताभक्तयोः पापसुकृतनाशकत्वाद् ईश्वरस्य वास्तवम् ईश्वरत्वम् इत्यत आह—**नाऽऽदत्त**

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वैत नहीं है, इस विषयमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। तब ईश्वरमें कर्तृत्व आदि कैसे हैं, इसपर कहते हैं—"स्वभावस्तु" इत्यादि। अनादि अविद्या ही कर्तृत्व आदि रूपसे प्रवृत्त होती है, यह आशय है। ईश्वर भक्तोंके पापका नाश करता है और अभक्तोंके पुण्यका नाश करता है, इसलिए उसमें ईश्वरत्व वास्तविक है, इसपर कहते हैं—"नाऽऽदत्ते" इत्यादि।

भाष्य

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' (गी० ५।१४।१५)
इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) । इति । तथा चेश्वरगीतास्वपि—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (गी० १८।६१) इति ।

सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्र-

भाष्यका अनुवाद

नाश नहीं करता, अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उससे जन्तु मोहित होते हैं) इस प्रकार पारमार्थिक अवस्थामें ईशितृ, ईशितव्य आदि व्यवहारका अभाव दिखलाते हैं। व्यवहारावस्थामें तो श्रुतिमें भी ब्रह्मका ईश्वर आदि रूपसे व्यवहार कहा गया है—"एष सर्वेश्वर एष०" (यह सबका ईश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति है, यह भूतोंका पालक है। लोकोंकी मर्यादा असंभिन्न न होनेके लिये यह व्यवस्था करनेवाला सेतु है)। इसी प्रकार भगवद्गीतामें भी—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, यन्त्रारूढ जैसे सब प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयस्थानमें रहता है) सूत्रकार भी परमार्थके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वम्'० (कार्यकारणका अनन्यत्व–अभेद) ऐसा सूत्रमें कहते हैं। व्यवहारके अभिप्रायसे 'स्याल्लोकवत्' (विभाग होगा लोकके समान) इस प्रकार ब्रह्मको महा समुद्र जैसा कहते हैं। और कार्य प्रपंचका

रत्नप्रभा

इति । न संहरति इत्यर्थः । तेन स्वरूपज्ञानावरणेन कर्ताऽहम् ईश्वरो मे नियन्ता इत्येवं भ्रमन्ति । उक्तार्थः सूत्रकारसम्मत इत्याह—सूत्रकारोऽपीति । न केवलं लौकिकव्यवहारार्थं परिणामप्रक्रियाश्रयणम्, किन्तु उपासनार्थं च इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

नादत्ते—नाश नहीं करता है। अपने स्वरूपज्ञानके आवृत होनेसे मैं कर्ता हूँ, ईश्वर मेरा नियन्ता है, इस प्रकार भ्रममें पड़े रहते हैं। पूर्वोक्त विषय सूत्रकारको भी सम्मत है, ऐसा कहते हैं—"सूत्रकारोऽपि" इत्यादिसे। केवल लौकिक व्यवहारके लिए ही परिणामप्रक्रिया नहीं

भाष्य

त्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाऽऽश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति ॥१४॥

भाष्यका अनुवाद

प्रत्याख्यान किये बिना सगुण उपासनामें उपयोगी हो सकेगा, ऐसा विचारकर परिणामप्रक्रियाका आश्रयण करते हैं ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

परिणामप्रक्रियां चेति। तदुक्तम्—"कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्" इति ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मानी गई, किन्तु उपासनाके लिए भी मानी गई है, ऐसा कहते हैं—"परिणामप्रक्रियां च" इत्यादिसे। उसी विषयको आचार्य कहते हैं—"कृपणधीः परिणाम०" (जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वह इस जगत्‌को ब्रह्मका परिणामरूपसे देखता है, जिसके चित्तसे कालुष्य हट गया है, वह इस जगत्‌को ब्रह्मका विवर्त देखता है ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

पदच्छेद—भावे, च, उपलब्धेः।

पदार्थोक्ति—भावे च—कारणस्य सत्त्व एव उपलब्धेः—कार्यस्योपलब्धेः [कार्यस्य कारणानन्यत्वम्]।

भाषार्थ—कारणके रहनेसे ही कार्यकी उपलब्धि होती है, इससे भी सिद्ध होता है कि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है।

भाष्य

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्य-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है, क्योंकि कारणके अस्तित्वमें ही कार्य

रत्नप्रभा

एवं तदनन्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधं परिहृत्य अनुमानम् आह—भावे चेति। कारणस्य भावे—सत्त्वे उपलब्धौ च कार्यस्य सत्त्वादेः उपलब्धेः च अनन्यत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार कार्य कारणसे अभिन्न है, इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिके विरोधका परिहार करके अब अनुमान कहते हैं—"भावे च" इत्यादिसे। कारणके रहनेपर और कारणकी

भाष्य

मुपलभ्यते, नाऽभावे । तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पटः । न च नियमेनाऽन्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते । न च कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि

भाष्यका अनुवाद

उपलब्ध होता है, कारणके अभावमें उपलब्ध नहीं होता । वह इस प्रकार है—मृत्तिकाके रहते घट उपलब्ध होता है और तन्तुओंके रहते पट उपलब्ध होता है । अन्य पदार्थकी सत्तामें अन्य पदार्थकी उपलब्धि नियमसे नहीं होती । अश्व गौसे भिन्न है, अतः गौके अस्तित्वमें ही अश्व उपलब्ध होता है, ऐसा नियम नहीं है । उसी प्रकार कुलालके अस्तित्वमें ही घट उपलब्ध होता है, ऐसा नियम

रत्नप्रभा

इति सूत्रार्थः । घटो मृदनन्यः, मृत्सत्त्वोपलब्धिक्षणनियतसत्त्वोपलब्धिमत्त्वात् मृद्वत् । अन्यत्वेऽपि अयं हेतुः किं न स्याद् इत्यप्रयोजकत्वम् आशङ्क्य निरस्यति—**न चेति** । मृद्घटयोः अन्यत्वे गवाश्वयोः इव हेतूच्छित्तिः स्याद् इत्यर्थः । गवाश्वयोः निमित्तनैमित्तिकत्वाभावाद् हेत्वभावः, अतो मृद्घटयोः तेन हेतुना निमित्तादिभावः सिध्यति, न अनन्यत्वम् इति अर्थान्तरताम् आशङ्क्य आह—**न च कुलालेति** । न च उपादानोपादेयभावेन अर्थान्तरता, मृद्दृष्टान्ते तद्भावाभावेऽपि हेतुसत्त्वाद् अन्यत्वे गवाश्ववत् तद्भावायोगाच्च इति भावः । कुलालघटयोः निमित्तादिभावे सत्यपि अन्यत्वात् कुलालसत्त्वनियतोपलब्धिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्धि होनेपर ही कार्यकी सत्ता और उपलब्धि होती है, इसलिए कार्य कारणसे अभिन्न है, यह सूत्रका अर्थ है । घट मृत्तिकासे अभिन्न है, क्योंकि मृत्तिकाकी सत्ता और उपलब्धि क्षणमें ही रहता है और उपलब्ध होता है, मृत्के समान । घट मृत्तिकासे भिन्न है, इसमें भी यह हेतु क्यों नहीं होगा, इस प्रकार अप्रयोजकत्वकी आशंका कर उसका निराकरण करते हैं—"न च" इत्यादिसे । मृत्तिका और घट यदि भिन्न भिन्न हों, तो गाय और घोड़ेके समान उसमें हेतु ही नहीं रहेगा, यह अर्थ है । गाय और घोड़ेमें कार्यकारणभाव नहीं है, इसलिए हेतु नहीं है, इस कारण उस हेतुसे मृत्तिका और घटमें कार्यकारणभावकी सिद्धि होती है, अभेद तो सिद्ध नहीं होता, इस प्रकार अर्थान्तरत्वकी आशंका कर कहते हैं—"न च कुलाल" इत्यादिसे । आशय यह है कि उपादानोपादेयभावसे कार्यकारणभाव अर्थान्तर नहीं है, मृत्तिकारूप दृष्टान्तमें कार्यकारणभाव नहीं रहनेपर भी हेतु है, यदि कार्यकारण भिन्न हों, तो गाय और घोड़ेके समान कार्य और कारणमें कार्यकारणभाव ही नहीं रहेगा । घट और कुलालमें कार्यकारणभाव रहनेपर भी भिन्न भिन्न होनेके कारण नियमतः कुलालकी

भाष्य

निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात् । नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे धूमस्येति । नेत्युच्यते । उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिंष्यादीदृशो धूमो नाऽसत्यग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव रहनेपर भी दोनों परस्पर भिन्न हैं। परन्तु अन्यकी सत्तामें अन्यकी उपलब्धि नियमसे देखी जाती है, जैसे कि अग्निके रहते ही धूमकी उपलब्धि होती है। इसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि बुझनेके पीछे भी गोपालघुटिका (घटिका) आदिमें धारण किया हुआ धूम देखनेमें आता है। यदि धूमको किसी विशेषणसे विशिष्ट कर दें कि ऐसा धूम अग्निके अभावमें नहीं होता, तो ऐसा निवेश करनेपर भी कोई दोष नहीं है,

---

रत्नप्रभा

घटस्य नैव इत्यक्षरार्थः । यथाश्रुतसूत्रस्थस्य हेतोः व्यभिचारं शङ्कते—**नन्विति** । अग्निभाव एव धूमोपलब्धिरिति नियमात्मको हेतुः तत्र नास्ति इत्याह—**नेति** । अविच्छिन्नमूलदीर्घरेखावस्थधूमे नियमोऽस्तीति व्यभिचार इति आशङ्कते—**अथेति** । तद्भावनियतभावत्वे सति तद्बुद्ध्यनुरक्तबुद्धिविषयत्वस्य हेतोः विवक्षितत्वात् न व्यभिचार इत्याह—**नैवमिति** । आलोकबुद्ध्यनुरक्तबुद्धिग्राह्ये रूपे व्यभिचारनिरासाय सत्यन्तम्, आलोकाभावेऽपि घटादिरूपसत्त्वात् न व्यभिचारः उक्तधूमविशेषस्य अग्निबुद्धिं विनापि उपलम्भात् न तत्र व्यभिचार इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्ता और उपलब्धिकालमें ही घटकी उपलब्धि नहीं होती है, यह अक्षरार्थ है। यथाश्रुत सूत्रमें रहनेवाले हेतुके व्यभिचारकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। अग्निके रहनेपर ही धूमकी उपलब्धि होती है, यह नियमरूप हेतु अग्निधूमस्थलमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। अविच्छिन्नमूल दीर्घरेखारूपसे रहनेवाले धूममें नियम है, इसलिए सूत्रोक्त हेतुका व्यभिचार है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। कारणसत्तानियतसत्ताक होते हुए कारणबुद्धिसे अनुरक्त बुद्धिका विषय होना हेतु विवक्षित है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे आलोकबुद्धिसे अनुरक्त बुद्धिसे ग्राह्य रूपमें व्यभिचारका निरास करनेके लिए हेतुमें 'तद्भावनियतभावत्वे सति' दिया गया है, आलोक न रहनेपर भी घट आदिमें रूप रहता है, इसलिए व्यभिचार नहीं है। उक्त धूम अग्निबुद्धिके

भाष्य

वानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः। न चाऽसावग्निधूमयोर्विद्यते। भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम्। न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतान-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि कार्यकारणकी सत्तासे अनुरक्त बुद्धिको हम कार्यकारणके अभेदमें हेतु कहते हैं। और ऐसी बुद्धि अग्नि और धूममें नहीं है। अथवा 'भावाच्चोपलब्धेः' ऐसा सूत्र है। केवल शब्दसे ही कार्य और कारण अभिन्न नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्षसे भी उनका अभेद उपलब्ध होता है, ऐसा अर्थ है। कार्यकारणके अभेदकी प्रत्यक्षतः उपलब्धि होती है। वह इस प्रकार है—तन्तुरचनाविशेषरूप पटमें तन्तुसे व्यतिरिक्त पट नामका कार्य उपलब्ध होता ही नहीं, केवल आतान

रत्नप्रभा

तथा च तयोः कार्यकारणयोः भावेन सत्तया अनुरक्तां सहकृताम् इति भाष्यार्थः। यद्वा, तद्भावः सामानाधिकरण्यं तद्विषयकबुद्धिग्राह्यत्वं हेतुं वदामः। मृद्घट इति सामानाधिकरण्यबुद्धिदर्शनाद् अग्निर्धूम इति अदर्शनाद् इत्यर्थः। अनुमानार्थत्वेन सूत्रं व्याख्याय पाठान्तरेण प्रत्यक्षपरतया व्याचष्टे—भावाच्चेति। पूर्वसूत्रोक्तारम्भणशब्दसमुच्चयार्थः चकारः। न च एकः पट इति प्रत्यक्षं पटस्य तन्तुभ्यः पृथक् सत्त्वे प्रमाणम्, अपृथक्सत्ताकमिथ्याकार्यविषयत्वेनाऽपि उपपत्तेः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

बिना भी उपलब्ध होता है, इसलिए उसमें व्यभिचार नहीं है। कार्य और कारणकी सत्तासे सहकृत, यह भाष्यगत 'तद्भावानुरक्त' पदका अर्थ है। अथवा तद्भाव—सामानाधिकरण्य, तद्विषयक बुद्धिसे ग्राह्यत्व हेतु है, क्योंकि 'मृद्घटः' इस प्रकार सामानाधिकरण्यबुद्धि देखनेमें आती है, 'अग्निर्धूमः' इस प्रकार तो नहीं दिखाई देती है। अनुमानपरतया सूत्रका व्याख्यान करके पाठान्तरसे प्रत्यक्षपरतया व्याख्यान करते हैं—"भावाच्च" इत्यादिसे। पूर्व सूत्रमें कथित आरम्भण शब्दके समुच्चयके लिए सूत्रमें चकार है। यह एक पट है, यह प्रत्यक्ष ही तन्तुओंसे पृथक् पटके रहनेमें प्रमाण है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कारणसत्तापेक्षया अभिन्नसत्ताक मिथ्या कार्यको उक्त प्रत्यक्षका विषय माननेपर भी यह एक पट है, यह बुद्धि

भाष्य

वितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् [छा० ६।४], ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और वितानवाले तन्तु ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तन्तुओंमें उनके अवयवभूत अंशु ही उपलब्ध होते हैं और अंशुओंमें उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धिसे लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं तदनन्तर वायु और उसके अनन्तर आकाशमात्र है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। तदुपरान्त केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है, उसमें सब प्रमाणोंकी परिसमाप्ति हमने कह दी है ॥१५॥

रत्नप्रभा

अतः आतानवितानसंयोगवन्तः तन्तवः एव पट इति प्रत्यक्षोपलब्धेः सत्त्वाद् अनन्यत्वमित्यर्थः। पटन्यायं तन्त्वादौ अतिदिशति—**तथेत्यादिना**। प्रत्यक्षोपलब्ध्या तत्तत्कार्ये कारणमात्रं परिशिष्यत इत्यर्थः। यत्र प्रत्यक्षं नास्ति तत्र कार्यं विमतं कारणादभिन्नं कार्यत्वात् पटवद् इत्यनुमेयम् इत्याह—**अनयेति**। कारणपरिशेषे प्रधानादिकं परिशिष्यताम् न ब्रह्म इत्यत आह—**तत्र सर्वेति**। ब्रह्मणि वेदान्तानां सर्वेषां तात्पर्यस्य उक्तत्वात् तदेव अद्वितीयं परिशिष्यते न कारणान्तरम् अप्रामाणिकत्वाद् इति भावः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पन्न हो सकती है। आतानवितानरूपसे संयुक्त तन्तु ही पट है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है, इसलिए कार्य कारणसे अभिन्न है। पटन्यायका तन्तु आदिमें अतिदेश कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। यह प्रत्यक्षज्ञानसे प्रतीत होता है कि सब कार्योंमें कारणमात्र ही अवशिष्ट रहता है, जहां प्रत्यक्षका अवकाश नहीं है, वहां सन्देहविषयीभूत कार्य कारणसे अभिन्न है, कार्य होनेसे पटके समान, ऐसा अनुमान करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अनया" इत्यादिसे। यदि कारणका परिशेष हो, तो प्रधानादि ही परिशिष्ट हों, ब्रह्म न हो, इसपर कहते हैं—"तत्र सर्व" इत्यादिसे। सब वेदान्तोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, ऐसा कहा गया है, इसलिए वह अद्वितीय ब्रह्म ही परिशिष्ट होता है, अन्य कारण नहीं, क्योंकि कारणान्तरकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है यह आशय है ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

पदच्छेद—सत्त्वात्, च, अवरस्य ।

पदार्थोक्ति—अवरस्य—कार्यस्य, सत्त्वाच्च—उत्पत्तेः प्राक् 'ब्रह्म वा इद-मग्र आसीत्' इत्यादौ सत्त्वश्रवणादपि [कार्यस्य कारणानन्यत्वम्] ।

भाषार्थ—'ब्रह्म वा०' (यह सारा जगत् उत्पत्तिके पहले ब्रह्मरूप ही था) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि उत्पत्तिके पहले कार्यकी सत्ता है, इससे भी सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है ।

भाष्य

इतश्च कारणात् कार्यस्याऽनन्यत्वं यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ०आ०२।४।१।१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात् । यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्,

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है, क्योंकि अर्वाचीन कार्य उत्पत्तिके पहले कारणरूपसे कारणमें ही विद्यमान था । कारण कि 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! सृष्टिसे पहले यह जगत् सत्स्वरूप ही था), 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिसे पूर्वमें यह जगत् केवल आत्मरूप ही था) इत्यादिमें 'इदम्' शब्दसे गृहीत कार्यका कारणके साथ सामानाधिकरण्य कहा गया है । जो जिस स्वरूपसे जिसमें नहीं होता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालूसे तेल उत्पन्न नहीं

रत्नप्रभा

इदं जगत् सद्-आत्मैव इति सामानाधिकरण्यश्रुत्या सृष्टेः प्राक् कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं श्रुतम् तदन्यथानुपपत्त्या उत्पन्नस्यापि जगतः कारणाद् अनन्य-त्वम् इत्याह सूत्रकारः—**सत्त्वाच्चेति** । श्रुत्यर्थे युक्तिमप्याह—**यच्च यदा-त्मनेति** । घटादिकं प्राक् मृदाद्यात्मना वर्तते तत उत्पद्यमानत्वात् सामान्यतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह जगत् सद्रूप आत्मा ही है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य श्रुतिसे सृष्टिके पहले कारणरूपसे कार्यकी सत्ता सुनी गई है, वह अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकती है, इसलिए उत्पन्न जगत् भी कारणसे अभिन्न है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"सत्त्वाच्च" इत्यादिसे । श्रुतिप्रतिपादित अर्थमें युक्ति भी कहते हैं—"यच्च यदात्मना" इत्यादिसे । घट आदि

भाष्य

तस्मात् प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात् कार्यमित्यवगम्यते। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता। इसलिए उत्पत्तिके पूर्वमें अभिन्न होनेसे उत्पत्तिके अनन्तर भी कार्य कारणसे अभिन्न है, ऐसा समझा जाता है। जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालोंमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार कार्य जगत् भी तीनों कालोंमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता है। सत्त्व तो एक है, इससे भी कार्य कारणसे अभिन्न है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

व्यतिरेकेण सिकताभ्यः तैलवत् इत्यर्थः। कारणवत् कार्यस्यापि सत्त्वात् सत्त्वभेदे मानाभावात् कार्यस्य कारणात् अभिन्नसत्ताकत्वम् इति सूत्रस्यार्थान्तरमाह—**यथा चेति**। इदानीं सतः कार्यस्य प्रागुत्तरकालयोः असत्त्वायोगात् सत्त्वाव्यभिचारः, तच्च सत्त्वं सर्वानुस्यूतचिन्मात्रम् एकम् तदभेदेन सती मृत् सन् घट इति भासमानयोः कार्यकारणयोः अनन्यत्वम् इत्यर्थः। न चैवं घटपटयोरपि एकसत्त्वाभेदात् अनन्यत्वं स्यादिति वाच्यम्। वस्तुत एकसत्त्वात्मनाऽनन्यत्वस्य इष्टत्वात्। तर्हि मृद्घटयोः को विशेषः? तादात्म्यमिति ब्रूमः। वस्तुतः सर्वत्र सत्तैक्येऽपि घटपटयोः भेदेन सत्ताया भिन्नत्वात् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिसे पूर्व मृद् आदि कारणरूपसे रहते हैं, क्योंकि उससे उत्पन्न होते हैं, जो जिस रूपमें नहीं रहता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालुओंसे तैल, यह अर्थ है। कारणके समान कार्य भी सत् है, क्योंकि सत्ताके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए कार्य कारणाभिन्नसत्ताक है, इस प्रकार सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं,—"यथा च" इत्यादिसे। वर्तमान समयमें रहनेवाले कार्यकी भूतकालमें और भविष्य कालमें सत्ता न हो, यह नहीं हो सकता है, इसलिए सत्ताका व्यभिचार नहीं है, वह सत्ता सब पदार्थोंमें अनुस्यूत एक चिन्मात्र है, उससे अभिन्न होनेके कारण मृत् सत् है, घट सत् है, इस प्रकार प्रतीयमान मृत्तिका, घट आदि कार्य, और कारणमें अभेद है। यदि ऐसा हो, तो घट और पट भी एक सत्तासे अभिन्न हैं, इसलिए दोनों अभिन्न हों, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः एक सत्तारूपसे दोनोंका अभेद इष्ट ही है। तब मृत्तिका और घटमें क्या विशेष है? उन दोनोंमें तादात्म्य है। वस्तुतः सर्वत्र सत्ता एक होनेपर भी घट और पट भिन्न होनेसे दोनोंकी सत्ता भी भिन्न है, इसलिए दोनोंमें तादात्म्य

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—असद्व्यपदेशात्, न, इति, चेत्, न, धर्मान्तरेण, वाक्यशेषात्।

पदार्थोक्ति—असद्व्यदेशात्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादिना उत्पत्तेः प्राक् जगदसत्त्वकथनात् [न कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वम्] इति चेत्, न, धर्मान्तरेण—अव्याकृतत्वरूपान्यधर्मेण [अयमसत्त्वोपदेशः, कुतः] वाक्यशेषात्—'तत् सदासीत्' इत्यादिवाक्यशेषात् [अतः सिद्धं कार्यस्य कारणानन्यत्वम्] ।

भाषार्थ—'असद्वा०' इत्यादिसे कहा गया है कि उत्पत्तिके पहले यह जगत् असत् था, इसलिए कार्यकी सत्ता कारणस्वरूपसे नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह असत्त्वकथन अव्याकृतत्व (नाम और रूपसे स्पष्ट न होना) रूप अन्य धर्मसे है, क्योंकि 'तत्सदासीत्' इत्यादि वाक्यशेषमें कहा गया है कि यह जगत् उत्पत्तिके पूर्वमें सत् था। इससे सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है।

भाष्य

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्'

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कहीं कहीं श्रुति उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका असत्त्व भी कहती है, जैसे कि 'असदेवेदमग्र०' (सृष्टिसे पूर्वमें यह जगत् असत् ही था), 'असद्वा इद०'

रत्नप्रभा

तादात्म्यम् कार्यकारणयोः भेदस्य सत्ताभेदकत्वाभावाद् अभिन्नसत्ताकत्वं तादात्म्यमिति विशेषः ॥ १६ ॥

उक्तं कार्यस्य प्राक् कारणात्मना सत्त्वम् असिद्धमिति आशङ्क्य समाधत्ते—असदिति। "अक्ताः शर्करा उपदध्याद्" इत्युपक्रमे केन अक्ता इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, कार्य और कारणका भेद तो सत्ताका भेदक नहीं है, इसलिए कार्य और कारणमें अभिन्न सत्ताकत्वरूप तादात्म्य है, यह विशेष है ॥ १६ ॥

उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी कारणरूपसे सत्ता जो कही गई है, वह असिद्ध है, ऐसी शंका करके समाधान करते हैं—"असद्" इत्यादिसे। आशय यह कि 'अक्ताः शर्करा०' (भिगोई हुई

भाष्य

(तै०२।७।१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्। नेति ब्रूमः। न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्याऽसद्व्यपदेशः, किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणाऽयमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणाऽनन्यस्य। कथमेतदवगम्यते? वाक्यशेषात्, यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत् तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत् सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासम्बन्धादासीच्छब्दानुप-

भाष्यका अनुद

(सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् असत् ही था)। इसलिए असत्का अभिधान होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्यकी सत्ता नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका यह जो असद्रूपसे अभिधान है, वह अत्यन्त असत्त्वके अभिप्रायसे नहीं है। तब किस अभिप्रायसे है? व्याकृतनामरूपत्वरूप धर्मसे अव्याकृतनामरूपत्व धर्म भिन्न है, उस भिन्न धर्मसे उत्पत्तिके पूर्व कारणस्वरूपसे अभिन्न सत् कार्य असत् कहा गया है। यह किस प्रकार समझा जाता है? वाक्यशेषसे। उपक्रममें जिस वाक्यका अर्थ सन्दिग्ध हो, उसका वाक्यशेषसे निश्चय किया जाता है। यहां 'असदेवेदमग्र आसीत्' इस उपक्रममें 'असत्' शब्दसे जो निर्दिष्ट है उसीका पीछे 'तत्' शब्दसे परामर्श करके 'तत्सदासीत्' (वह सत् था) इस प्रकार 'सत्' ऐसा उसका विशेषण कहा है। 'असत्' का पूर्व और उत्तर कालसे संबन्ध न होनेसे 'आसीत्' (था) शब्दकी

रत्नप्रभा

सन्देहे "तेजो वै घृतमिति" वाक्यशेषात् घृतेन इति यथा निश्चयः, एवमत्राऽपि "तत्सद्" इति वाक्यशेषात् सन्निश्चय इत्यर्थः। आसीत् इति अतीतकालसम्बन्धोक्तेः च सत् अव्याकृतमेव न शून्यमित्याह—असतश्च पूर्वापरेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चीनीको रक्खे) इस उपक्रममें किससे भिगोई हुई, रखना चाहिए? ऐसा सन्देह होनेपर 'तेजो वै घृतम्' (घृत तेज ही है) इस वाक्यशेषसे जैसे घृतसे भिगोना चाहिए, ऐसा निश्चय होता है उसी प्रकार यहाँ भी 'तत्सत्' (था) इस प्रकार भूतकालसम्बन्ध कहा गया है, इसलिए 'असत्' का अर्थ अव्याकृत ही है, शून्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"असतश्च पूर्वापर"

भाष्य

पत्तेश्च । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम् । तस्माद् धर्मान्तरेणैवाऽयमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य । नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम् । अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवाऽऽसीदित्युपचर्यते ॥१७॥

भाष्यका अनुवाद

अनुपपत्ति हो जायगी । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इसमें भी 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने स्वयं अपनेको जगद्रूपसे रचा) ऐसा वाक्यशेषमें विशेषण है, इसलिए अत्यन्त असत्त्व नहीं है । अतएव उत्पत्तिसे पूर्व अन्य धर्मसे ही कार्यका यह असत्त्वका कथन है । नाम और रूपसे व्याकृत वस्तु सत् शब्दके योग्य है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है । इसलिए नाम और रूपसे व्याकृत होनेसे पहले असत्-सा था, इससे असत् शब्दका उपचार किया गया है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

उक्तन्यायं वाक्यान्तरे अतिदिशति—असद्वेति । क्रियमाणत्वविशेषणं शून्यस्य असम्भवि इति भावः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । उक्त न्यायका वाक्यान्तरमें भी अतिदेश कहते हैं—"असद्वा" इत्यादिसे । 'अकुरुत' इस प्रकार क्रियमाणत्वरूप जो विशेषण कहा गया है, वह शून्यमें नहीं घट सकता है, यह तात्पर्य है ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

पदच्छेद—युक्तेः, शब्दान्तरात्, च ।

पदार्थोक्ति—युक्तेः—मृदात्मना पूर्वं घटस्याऽसम्भवे मृदेव घटार्थिना नोपादीयेत असत्त्वाविशेषात् यत्किञ्चिदेवोपादीयेतेत्येवमाद्याया युक्तेः, शब्दान्तराच्च—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादौ विद्यमानसच्छब्दान्तराच्च [सिद्धं कार्यस्य कारणानन्यत्वं सत्त्वं च] ।

भाषार्थ—उत्पत्तिके पहले घट मृत्तिकारूपसे न होता, तो घटको बनानेकी इच्छा रखनेवाला मृत्तिकाको ही नियमसे ग्रहण नहीं करता और पदार्थोंको भी ग्रहण करता, क्योंकि घटकी सत्ताको उसकी उत्पत्तिके पहले न माने पर मृत्तिका और अन्य पदार्थोंमें कोई विशेषता नहीं रहेगी, इत्यादि युक्तियोंसे और 'सदेव०' (हे प्रियदर्शन ! यह जगत् उत्पत्तिके पहले सद्रूप ही था) इत्यादि श्रुतियोंमें विद्यमान 'सत्' शब्दसे यह बात सिद्ध होती है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है । उत्पत्तिके पहले भी कार्य कारणरूपमें विद्यमान है ।

भाष्य

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च । युक्तिस्तावद् वर्ण्यते—दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते । नहि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते, न घटार्थिभिः क्षीरम्, तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत । अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वत्र सर्वस्यासत्त्वे कस्मात् क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात् । अथाऽविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीरे एव दध्नः कश्चिदतिशयो न

भाष्यका अनुवाद

युक्तिसे और अन्य श्रुतिसे भी उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता और कारणसे अभेद ज्ञात होता है । प्रथम युक्तिका वर्णन किया जाता है—व्यवहारमें देखा जाता है कि दधि, घट, रुचक आदिकी इच्छावाले दूध, मृत्तिका, सुवर्ण आदि नियत कारणोंका ग्रहण करते हैं । दधिकी इच्छावाले मृत्तिकाका ग्रहण नहीं करते और घटकी इच्छावाले दूधका ग्रहण नहीं करते । यह असत्कार्यवादमें उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व सबका सर्वत्र असत्त्व साधारण होनेसे दूधसे ही दधि क्यों उत्पन्न होता है और मृत्तिकासे क्यों नहीं होता, उसी प्रकार मृत्तिकासे ही घट क्यों उत्पन्न होता है, दूधसे क्यों नहीं होता । पूर्वमें असत्त्वके

रत्नप्रभा

सत्त्वानन्यत्वयोः हेत्वन्तरमाह सूत्रकारः—युक्तेरिति । दध्याद्यर्थिनां क्षीरादौ प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिः युक्तिः, तया कार्यस्य प्राक् कारणानन्यत्वेन सत्त्वं सिध्यति इत्यर्थः । असतोऽपि कार्यस्य तस्माद् उत्पत्तेः कारणत्वधिया तत्र प्रवृत्तिः इति अन्यथोपपत्तिमाशङ्क्य आह—अविशिष्टे हीति । असत उत्पत्त्यभावाद् उत्पत्तौ वा सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात् तत्तदुपादानविशेषे प्रवृत्तिः न स्यादित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्य उत्पत्तिसे पूर्व सत् है और कारणसे अभिन्न है, इस विषयमें सूत्रकार अन्य हेतु कहते हैं—'युक्तेः' इत्यादिसे । दधि आदि चाहनेवालोंकी क्षीर आदिमें प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्ति युक्ति है, उस युक्तिसे उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी कारणाभेदसे सत्ता सिद्ध होती है । दधि आदि कार्य उत्पत्तिके पहले विद्यमान न होनेपर भी क्षीर आदिसे उत्पन्न होता है, इसलिए कारणत्वज्ञानसे क्षीर आदिमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार अन्यथा उपपत्तिकी आशंका करके कहते हैं—"अविशिष्टे हि" इत्यादि । तात्पर्य यह है कि असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता, यदि असत्की उत्पत्ति मानी जाय तो सबसे सबकी उत्पत्ति होने लगेगी, अतः कारणविशेषमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी । यही बात

भाष्य

मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत,

भाष्यका अनुवाद

साधारण होनेपर भी दूधमें ही दहीका कुछ गुणविशेष है, मृत्तिकामें नहीं है और मृत्तिकामें ही घटका कुछ गुणविशेष है, दूधमें नहीं है, ऐसा कहोगे, तो

रत्नप्रभा

तदुक्तं सांख्यवृद्धैः—असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

(सा०का० ९) इति। शक्तस्य कारणस्य शक्यकार्यकारित्वात् शक्तिविषयस्य कार्यस्य सत्त्वम्, असत अशक्यत्वात् । किञ्च, सत्कारणाभेदात् कार्यसद् इति उत्तरार्द्धार्थः । कार्यस्य असत्त्वेऽपि कुतश्चिदतिशयात् प्रवृत्तिनियमोपपत्तिः इति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्यवृद्धोंसे अर्थात् ईश्वरकृष्णने—'असदकरणाद्०' इस कारिकामें कही है । शक्तिविशिष्ट कारण शक्तिसंबद्ध कार्यका उत्पादक है, इसलिए शक्तिसम्बद्ध कार्यकी सत्ता उत्पत्तिके पहले माननी चाहिए, यदि कार्य असत् हो, तो शक्तिसंबद्ध नहीं होगा। और कारण सत् है, उससे अभिन्न होनेके कारण कार्य भी सत् है, यह कारिकाके उत्तरार्धका अर्थ है । उत्पत्तिके पहले कार्य न रहनेपर भी किसी अतिशय विशेषसे प्रवृत्तिका नियम उपपन्न हो सकता है,

(१) कारिकाका तात्पर्य संक्षेपमें इस प्रकार है—असत् पदार्थ किसीसे किया नहीं जा सकता। यदि कारणव्यापारसे पूर्व कार्य असत् हो, तो किसी प्रकार भी उसकी सत्ता नहीं की जा सकती, जैसे कि हजार शिल्पी मिलकर भी नीलको पीत नहीं कर सकते, हजार युक्तियाँ भी घटको पट नहीं कर सकतीं, अतः कार्य सत् है। कारणका कार्यके साथ संबन्ध है अर्थात् कार्यसे संबद्ध कारण ही कार्यका जनक होता है, यदि कार्य पूर्व असत् हो, तो असत्का संबन्ध ही न हो सकनेके कारण कारणसे कार्यकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी, अतः कार्य सत् है। यदि असंबद्ध कार्य ही कारणसे उत्पन्न होता हो, तो सबसे असंबद्ध होनेसे सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिए, अर्थात् मृत्तिकासे पट, तन्तुओंसे घट आदि कार्य होने चाहिएँ, ऐसा तो नहीं होता है, इसलिए कार्य पूर्वमें भी सत ही है। जिस कार्यको उत्पादन करनेकी शक्ति जिस कारणमें रहती है, उस कारणसे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है, यदि कार्य पूर्वमें असत् हो, तो कार्य कारणमें रहनेवाली शक्तिसे सम्बद्ध न होनेके कारण उत्पन्न ही न हो सकेगा, यदि उत्पन्न होगा, तो सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होने लगेगी, इसलिए उस शक्तिको कार्यसम्बद्ध मानना चाहिए। असत् कार्यसे तो संबन्ध नहीं हो सकता, इसलिए कार्य पूर्व भी सत् है। कार्य कारणस्वरूप है, कारणसे भिन्न नहीं है। यदि कारणसे भिन्न हो, तो कारणसे अन्यत्र उपलब्ध हो, तन्तु आदि कारणोंसे अन्यत्र पट आदि कार्य उपलब्ध नहीं होते हैं, अतः कारणरूप है। कारण तो कार्यकी उत्पत्तिके पहले भी सत् है, अतः कारणस्वरूप कार्य भी उत्पत्तिके पहले सत् है ।

भाष्य

तर्ह्यतिशयवत्त्वात् प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात् कारणस्याऽऽत्मभूता शक्तिः शक्तेश्चाऽऽत्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाऽश्वमहिषवद् भेदबुद्ध्यभावात् तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

इससे पूर्वकी अवस्थाके गुणविशिष्ट होनेसे असत्कार्यवादकी हानि और सत्कार्यवादकी सिद्धि होगी। और कार्यके नियमनके लिए कल्प्यमान कारणशक्ति अन्य या असत् होनेसे कार्यका नियमन नहीं कर सकेगी, क्योंकि असत्त्वमें कोई विशेष नहीं है और अन्यत्वमें भी कोई विशेष नहीं है। इसलिए कारणकी आत्मभूत शक्ति है और शक्तिका आत्मभूत कार्य है। और कार्य कारणमें तथा द्रव्य, गुण आदिमें अश्व और महिषके समान भेद बुद्धि नहीं है, इसलिए उनमें तादात्म्यका स्वीकार करना चाहिए।

रत्नप्रभा

अथेति। अतिशयः कार्यधर्मः कारणधर्मो वा। आद्ये धर्मित्वात् प्रागवस्थारूपस्य कार्यस्य सत्त्वं दुर्वारम् इत्याह—**तर्ह्यतिशयवत्त्वादिति**। द्वितीयेऽपि कार्यसत्त्वम् आयातीत्याह—**शक्तिश्चेति**। कार्यकारणाभ्याम् अन्या कार्यवद् असती वा शक्तिः न कार्यनियामिका, यस्य कस्यचिदन्यस्य नरशृङ्गस्य वा नियामकत्वप्रसङ्गाद्, अन्यत्वासत्त्वयोः शक्तौ अन्यत्र च अविशेषात्; तस्मात् कारणात्मना लीनं कार्यमेव अभिव्यक्तिनियामकतया शक्तिः इति एष्टव्यम्। ततः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शंका करते है—"अथ" इत्यादिसे। अतिशय कार्यका धर्म है अथवा कारणका धर्म है? यदि कार्यका धर्म हो तो उसके धर्मी होनेके कारण धर्मके पहले धर्मीका रहना अवश्य है, अतः उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता नहीं हटाई जा सकेगी, ऐसा कहते हैं—"तर्ह्यतिशयवत्त्वाद्" इत्यादिसे। यदि कारणका धर्म हो, तो भी कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—"शक्तिश्च" इत्यादिसे। शक्ति यदि कार्य और कारणसे अन्य हो, अथवा कार्यके समान असत् हो तो कार्यका नियामक नहीं हो सकती, अन्यथा कोई एक पदार्थ, या नरशृंग भी नियामक हो जायगा, क्योंकि कार्य और कारणसे भेद एवं असत्ता शक्तिके समान नरशृंगमें भी है, इसलिए कारणस्वरूपसे लीन कार्य ही अपनी अभिव्यक्तिका नियामक होनेसे शक्ति कहलाता है, ऐसा मानना चाहिए, इससे सत्कार्यकी सिद्धि होती है, यह अर्थ

भाष्य

समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्याऽन्योऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अन-

भाष्यका अनुवाद

समवायकी कल्पनामें भी समवायका समवायियोंके साथ संबन्ध स्वीकार करनेपर उनके भिन्न भिन्न संबन्धोंकी कल्पना करनी पड़ेगी,

रत्नप्रभा

सत्कार्यसिद्धिः इत्यर्थः। किञ्च, कार्यकारणयोः अन्यत्वे मृद्घटौ भिन्नौ सन्तौ इति भेदबुद्धिः स्याद् इत्याह—**अपि चेति**।

तयोः अन्यत्वेऽपि समवायवशात् तथा बुद्धिः भवति इत्याशङ्क्य समवायं दूषयति—**समवायेति**। समवायः समवायिभिः सम्बद्धो न वा? आद्ये सम्बन्धः किं समवायः उत स्वरूपम्। आद्ये समवायानवस्था, द्वितीये मृद्घट-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। और कार्य, कारण भिन्न हों, तो मृत्तिका और घट भिन्न हैं, इस प्रकार भेदबुद्धि होगी, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

कार्य और कारणके भिन्न होनेपर भी समवायके[1] वशसे भेदबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, ऐसी आशंका करके समवायका निराकरण करते हैं—"समवाय" इत्यादिसे। समवाय समवायी पदार्थोंसे संबद्ध है या नहीं? यदि संबद्ध है, तो समवायसंबन्धसे संबद्ध है अथवा स्वरूपसंबन्धसे? यदि समवायसंबन्धसे संबद्ध है, तो समवायकी अनवस्था होगी, यदि

(१) युतसिद्ध (पहले परस्पर असम्बद्ध) दो पदार्थोंका जैसे संयोग संबन्ध माना जाता है, उसी प्रकार अयुतसिद्ध दो पदार्थोंका समवाय संबन्ध मानना आवश्यक है। अयुतसिद्ध, आधाराधेयभूत पदार्थोंका जो संबन्ध 'इह' (इसमें) इस ज्ञानका जनक होता है, वह समवाय है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेषोंमें जो अयुतसिद्ध आधाराधेयभावसे स्थित है, उनमें 'इसमें यह पदार्थ है' ऐसी बुद्धि जिससे होती है, अन्यत्वेन अधिगत किन्तु पृथग् न रहनेवाले पदार्थोंका 'इसमें यह है' ऐसी बुद्धि जिससे होती है, वह समवाय है। जैसे 'भूतलमें घट है' यह बुद्धि भूतल और घटका सबन्ध रहनेसे होती है उसी प्रकार 'तन्तुओंमें पट है, द्रव्यमें, द्रव्य, गुण, कर्म, हैं, द्रव्य, गुण और कर्ममें सत्ता है' इत्यादि प्रत्यय भी संबन्धसत्तासे ही होते हैं। यह संबन्ध संयोग तो नहीं है, क्योंकि संयोग युतसिद्ध द्रव्योंमें ही होता है, कर्मजन्य होता है और विभागसे नष्ट होता है, इसलिए यह समवाय है। समवाय एक है, नित्य है, अतीन्द्रिय है, 'इह' (इसमें) बुद्धिसे अनुमेय है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। नैयायिक समवायको प्रत्यक्ष मानते हैं। प्राभाकर समवायको नाना एवं अनित्य मानते हैं। समवायके स्थानमें स्वरूपसंबन्धसे कार्यनिर्वाह हो सकता है, इसलिए समवाय पदार्थान्तर नहीं है, ऐसा भाट्ट और सांख्य कहते हैं।

भाष्य

भ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं सम्बन्धं सम्बद्ध्येत, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वा-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा करनेसे अनवस्था हो जायगी और न स्वीकार करनेपर कार्य और कारण तथा द्रव्य और गुण आदिका विच्छेद हो जायगा। समवाय स्वयं संबन्धरूप होनेसे दूसरे संबन्धकी अपेक्षाके बिना ही संबद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो

रत्नप्रभा

योरपि स्वरूपसम्बन्धादेव उपपत्तेः समवायासिद्धिः। असम्बद्ध इति पक्षे दोषमाह—**अनभ्युपगम्यमाने इति**। द्रव्यगुणादीनां विशिष्टधीविरहप्रसङ्गः असम्बद्धस्य विशिष्टधीनियामकत्वायोगाद् इत्यर्थः। विशिष्टधीनियामको हि सम्बन्धः, न तस्य नियामकान्तरापेक्षा अनवस्थानात्, अतः स्वपरनिर्वाहकः समवाय इति शङ्कते—**अथेति**। सम्बध्यते-स्वस्य स्वसम्बन्धिनश्च विशिष्टधियं करोति इत्यर्थः। प्रतिबन्द्या दूषयति—**संयोगोऽपीति**। यत्तु गुणत्वात् संयोगस्य समवायापेक्षा न सम्बन्धत्वात् इति, तत् न; धर्मत्वात् समवायस्यापि सम्बन्धान्तरापत्तेः असम्बद्धस्य अश्वत्वस्य गोधर्मत्वादर्शनात्। किञ्च, 'निष्पापत्वादयो गुणाः' इति श्रुतिस्मृत्यादिषु व्यवहाराद् 'इष्टधर्मो गुणः' इति परिभाषया समवायस्यापि गुणत्वाच्च। 'जातिविशेषो गुणत्वम्' इति परिभाषा तु समवायसिद्ध्युत्तरकालीना,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वरूपसंबन्धसे संबद्ध है, तो मृत् और घटका भी स्वरूप संबन्ध ही हो सकता है, अतः समवाय असिद्ध है। समवाय पदार्थोंसे संबद्ध नहीं है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—"अनभ्युपगम्यमाने" इत्यादिसे। द्रव्य, गुण आदिकी विशिष्ट बुद्धि न होगी, क्योंकि असंम्बद्ध संबन्ध विशिष्टज्ञानका जनक नहीं हो सकता है, यह अर्थ है। संबन्ध विशिष्टज्ञानका नियामक है, उसके लिए अन्य नियामककी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अनवस्था हो जायगी, इसलिए समवाय अपना और अन्यका निर्वाहक है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। सम्बध्यते—अपना तथा अपने संबन्धीका विशिष्टज्ञान कराता है, ऐसा अर्थ है। उक्त पूर्वपक्षका प्रतिबन्दीसे निराकरण करते हैं—"संयोगोऽपि" इत्यादिसे। संयोग गुण होनेसे समवायकी अपेक्षा रखता है, संबन्ध होनेसे नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, समवाय भी धर्म है, अतः उसके लिए अन्य संबन्धकी अपेक्षा होगी, क्योंकि गौसे संबन्ध न रखनेवाला अश्वत्व गौका धर्म नहीं दिखाई पड़ता। और 'निष्पापत्वादयो०' (पापराहित्य आदि गुण हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें 'व्यवहार होनेसे 'इष्ट०' (अभिप्रेत धर्म गुण है) इस परिभाषासे समवाय भी गुण हो सकता

भाष्य

दनपेक्ष्यैव समवायं सम्बध्येत, तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवाय-कल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत, किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम्। यदि तावत्

भाष्यका अनुवाद

संयोग भी स्वयं संबन्धरूप होनेसे समवायकी अपेक्षाके बिना ही संबद्ध हो जायगा। और तादात्म्यकी प्रतीतिसे द्रव्य, गुण आदिमें समवायकी कल्पना अनर्थक है। और कार्य—अवयवी द्रव्य जो कारण—अवयव द्रव्योंमें रहता है, वह किस प्रकार रहता है? क्या समस्त अवयवोंमें रहता है अथवा

रत्नप्रभा

नित्याऽनेकसमवेता जातिः इति ज्ञानस्य समवायज्ञानाधीनत्वात्, अतः समवाय-सिद्धेः प्राक् संयोगस्य गुणत्वम् असिद्धमिति दिक्। किञ्च, प्रतीत्यनुसारेण वस्तु स्वीकार्यम् अन्यथा गोप्रतीतेः अश्व आलम्बनमित्यस्यापि सुवचत्वात्। तथा च मृत् घट इत्यभेदप्रतीतेः अभेद एव स्वीकार्यः। ताभ्याम् अत्यन्तभिन्नस्य समवायस्य तन्नियामकत्वासम्भवाद् इत्याह—**तादात्म्येति**। एवं प्रतीत्यनुसारेण कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं स्वरूपेण तु मिथ्यात्वम् इत्युक्तम्। वृत्त्यनिरूपणाच्च तस्य मिथ्यात्वमित्याह—**कथं चेति**। तत्र आद्यम् अनूद्य अवयविनः पटादेः तन्त्वादिषु अवयवेषु त्रित्वादिवत् स्वरूपेण वृत्तिः, उत अवयवश इति विकल्प्य आद्यं दूषयति—**यदीत्यादिना**। व्यासज्यवृत्तिवस्तुप्रत्यक्षस्य यावदाश्रयप्रत्यक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। जातिविशेष गुण है, यह परिभाषा तो समवायसिद्धिके उत्तरकालीन है, क्योंकि नित्य और अनेक पदार्थोंमें समवायसंबन्धसे रहनेवाला धर्म जाति कहलाता है, यह ज्ञान समवायज्ञानके अधीन है। इसलिए समवायसिद्धिके पहले संयोग गुण है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, इत्यादि समझना चाहिए। और प्रतीतिके अनुसार पदार्थका स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा 'गौः' इस प्रतीतिका विषय अश्व भी हो जायगा। अतः 'मृत् घटः' इस प्रकार अभेदकी प्रतीति होती है, इसलिए मृत्तिका और घटमें अभेद ही स्वीकार करना चाहिए। मृत्तिका और घटसे अत्यन्त भिन्न समवाय 'मृत् घटः' इस ज्ञानका नियामक नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"तादात्म्य" इत्यादिसे। इस प्रकार प्रतीतिके अनुसार कार्य कारणस्वरूपसे विद्यमान है, अपने स्वरूपसे मिथ्या है, यह कहा गया। कारणमें कार्यका रहना भी उपपन्न नहीं हो सकता है, इसलिए कार्य मिथ्या है, ऐसा कहते—"कथं च" इत्यादिसे। उक्त पक्षोंमें प्रथमका अनुवाद कर तन्तु आदि अवयवोंमें पट आदि अवयवकी वृत्ति त्रित्व आदिके समान स्वरूपसे है अथवा प्रत्येक अवयवमें अलग अलग है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—"यदि"

भाष्य

समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्, नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत। कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्। अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारोऽन्यत्राऽव्यापारः स्यात्, नहि देवदत्तः स्रुघ्ने

भाष्यका अनुवाद

प्रत्येक अवयवमें रहता है? यदि समस्त अवयवोंमें रहे, तो अवयवीकी अनुपलब्धि हो जायगी, क्योंकि समस्त अवयवोंका इन्द्रियके साथ संनिकर्ष नहीं होता, जैसे कि समस्त आश्रयोंमें रहनेवाले बहुत्वका किसी एक आश्रयके ग्रहणसे ग्रहण नहीं होता। यदि समस्त अवयवोंमें अवयवावच्छेदसे रहे, तो जिन आरम्भक अवयवोंमें अवयवी अवयवावच्छेदसे रहता है, उन आरम्भक अवयवोंसे भिन्न अवयवीके अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। यह प्रसिद्ध है कि कोशके अवयवोंसे भिन्न अवयवोंसे तलवार कोशको व्याप्त करती है। ऐसी अवस्थामें अनवस्थाका दोष होगा, क्योंकि उन उन अवयवोंमें रहनेके लिए अन्य अन्य अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। यदि प्रत्येक अवयवमें रहे, तो एक स्थानपर व्यापार होनेपर दूसरे स्थानमें व्यापार न होगा, क्योंकि स्रुघ्नमें

रत्नप्रभा

जन्यत्वात् संवृतपटादेः यावदवयवानाम् अप्रत्यक्षत्वाद् अप्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। यथा हस्ते कोशे च अवयवशः खड्गो वर्तमानो हस्तमात्रग्रहेऽपि गृह्यते, एवं यत्किञ्चिदवयवग्रहेण अवयविनो ग्रहसम्भवेऽपि अवयवानाम् अनवस्था स्याद् इति दूषयति—तदापीति। आद्यद्वितीयम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। व्यासज्यवृत्ति[1] पदार्थका प्रत्यक्ष उसके सब आश्रय पदार्थोंके प्रत्यक्षसे होता है, इसलिए संवृत पटके सब अवयवोंका प्रत्यक्ष न होनेसे पटका प्रत्यक्ष नहीं होगा, ऐसा अर्थ है। दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। जैसे हाथमें और म्यानमें अवयवशः रहनेवाली तलवार केवल हाथके ग्रहणसे भी गृहीत हो जाती है, उसी प्रकार कुछ अवयवोंके ग्रहणसे अवयवीका ग्रहण संभव होनेपर भी अवयवोंकी अनवस्था हो जायगी, ऐसा दूषित करते हैं—"तदापि"

(१) अनेक पदार्थोंमें व्याप्त।

भाष्य

संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः। गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्। न; तथा प्रतीत्यभावात्। यदि गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्याद् यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति गृह्यते एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत, न चैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात् तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि-

भाष्यका अनुवाद

रहता हुआ देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्रमें नहीं रह सकता। एक ही समय अनेक स्थानमें रहे, तो स्रुघ्न और पाटलिपुत्रमें रहनेवाले देवदत्त और यज्ञदत्तके समान अनेकत्वका प्रसंग आवेगा। गोत्व आदिके समान प्रत्येकमें परिसमाप्ति होनेसे दोष नहीं है, ऐसा कहो तो, नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। यदि गोत्व आदिके समान अवयवी प्रत्येकमें परिसमाप्त हो, तो जैसे गोत्वका प्रत्यक व्यक्तिमें प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, वैसे ही अवयवीका भी प्रत्येक अवयवमें प्रत्यक्ष ग्रहण होगा। परन्तु ऐसा नियमसे ग्रहण नहीं होता। प्रत्येकमें परिसमाप्ति हो, तो अवयवीको कार्यके साथ अधिकार होनेसे और उसके एक होनेसे गाय सींगसे भी स्तनकार्य करेगी और छातीसे पीठ-

रत्नप्रभा

उद्भाव्य दूषयति—**अथ प्रत्यवयवमित्यादिना**। एकस्मिन् तन्तौ पटवृत्तिकाले तन्त्वन्तरे वृत्तिः न स्यात्, वृत्तौ अनेकत्वापत्तेः इत्यर्थः। यथा युगपदनेकव्यक्तिषु वृत्तौ अपि जातेः अनेकत्वदोषो नास्ति, तथाऽवयविन इत्याशङ्कते—**गोत्वेति**। जातिवद् अवयविनो वृत्तिः असिद्धा अनुभवाभावाद् इति परिहरति—**न तथेति**। दोषान्तरमाह—**प्रत्येकेति**। अधिकारात्—सम्बन्धात्। यथा देवदत्तः स्वकार्यम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। कार्य प्रत्यवयवमें रहता है, इस पक्षको उठाकर दूषित करते हैं—"अथ प्रत्यवयवम्" इत्यादिसे। एक तन्तुमें जब पट रहता है, तब अन्य तन्तुमें वह नहीं रह सकेगा, यदि रहे तो अनेक हो जायगा, यह तात्पर्य है। जैसे एक ही समय अनेक व्यक्तियोंमें रहनेपर भी जातिमें अनेकत्व दोष नहीं है, उसी प्रकार अवयवीमें भी नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"गोत्व" इत्यादिसे। जातिके समान अवयवीकी वृत्ति असिद्ध है, क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न तथा" इत्यादिसे। अन्य दोष कहते हैं—"प्रत्येक" इत्यादिसे। अधिकार—सम्बन्ध।

भाष्य

स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। नचैवं दृश्यते।

प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्, क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न

भाष्यका अनुवाद

का कार्य करेगी। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता।

और उत्पत्तिके पूर्व कार्य अविद्यमान हो, तो उत्पत्ति कर्तृरहित और निरात्मक हो जायगी। उत्पत्ति क्रिया है, वह गति आदिके समान सकर्तृक ही हो सकती है। क्रिया अकर्तृक हो यह विरुद्ध है। घटकी

रत्नप्रभा

अध्ययनं ग्रामे अरण्ये वा करोति; तथा गौः अवयवी स्वकार्यं क्षीरादिकं शृङ्ग-पुच्छादौ अपि कुर्याद् इत्यर्थः।

एवं वृत्त्यनिरूपणाद् अनिर्वाच्यत्वं कार्यस्य दर्शितम्, सम्प्रति असत्कार्यवादे दोषान्तरमाह—**प्रागिति**। यथा घटः चलति इत्युक्ते चलनक्रियां प्रति आश्रयत्व-रूपं कर्तृत्वं घटस्य भाति तथा पटो जायत इति जनिक्रियाकर्तृत्वमनुभूयते, अतो जनिकर्तुः जनेः प्राक् सत्त्वं वाच्यम् कर्तुः असत्त्वे क्रियाया अपि असत्त्वापत्तेः इत्यर्थः। जनेः अनुभवसिद्धेऽपि सकर्तृकत्वे क्रियात्वेन अनुमानमाह—**उत्पत्तिश्चेति**। असतो घटस्य उत्पत्तौ कर्तृत्वासम्भवेऽपि कुलालादेः सत्त्वात् कर्तृत्वम् इत्याशङ्क्य आह—**घटस्य चेति**। घटोत्पत्तिवद् असत्कपालाद्युत्पत्तिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे देवदत्त अपने कार्य—अध्ययनको ग्राममें अथवा अरण्यमें करता है उसी प्रकार गाय भी अपने कार्य—क्षीर आदिका शृंग, पूँछ आदि अवयवोंमें सम्पादन करेगी यह अर्थ है।

इस प्रकार कार्यकी कारणमें वृत्तिका निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए कार्य अनिर्वाच्य है, यह दिखलाया गया, अब असत्कार्यवादमें अन्य दोष कहते हैं—"प्राग्" इत्यादिसे। जैसे घट चलता—हिलता है, ऐसा कहनेपर चलनक्रियाका आश्रयत्वरूप कर्तृत्व घटमें भासता है, उसी प्रकार पट उत्पन्न होता है, इसमें जनन-क्रियाका कर्तृत्व अनुभवमें आता है, इसलिए यह कहना चाहिए कि जननक्रियाके पहले जननक्रियाका कर्ता है, यदि पहले कर्ता न हो, तो क्रिया भी नहीं होगी, ऐसा अर्थ है। जननक्रियाके अनुभवसिद्ध होनेपर भी वह सकर्तृक है, इस विषयमें क्रियात्वरूप हेतुसे अनुमान कहते हैं—"उत्पत्तिश्च" इत्यादिसे। असत् घट उत्पत्तिक्रियाका कर्ता न हो सकनेपर भी पूर्व विद्यमान कुलाल आदि कर्ता होंगे, ऐसी शंका कर कहते हैं—"घटस्य

भाष्य

घटकर्तृका किं तर्ह्यन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत, तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। न च लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नताप्रतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धा-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति घटकर्तृक नहीं है, किन्तु अन्यकर्तृक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार कपाल आदिकी उत्पत्ति भी तो अन्यकर्तृक ही है, ऐसी कल्पना करनी होगी। ऐसा होनेसे घट उत्पन्न होता है, ऐसा कहनेसे कुलाल आदि कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जायगा। परन्तु लोकमें घटकी उत्पत्ति ऐसा कहनेसे कुलाल आदिकी भी उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती, क्योंकि घट उत्पन्न होता है, इस ज्ञानके अनन्तर कुलाल आदि उत्पन्न हुए हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता। यदि उत्पत्तिका अर्थ अपने कारण या सत्ताके साथ अपना संबन्ध और कार्यका आत्मलाभ हो तो जिसने सत्ता प्राप्त नहीं की वह

रत्नप्रभा

इत्यतिदिशति—**तथेति**। शङ्कामनूद्य दोषमाह—**तथा चेति**। अनुभवविरोध इत्यर्थः। उत्पत्तिः भावस्य आद्या विक्रिया इति स्वमतेन कार्यसत्त्वम् आनीतम्, सम्प्रति कार्यस्य उत्पत्तिर्नाम स्वकारणे समवायः स्वस्मिन् सत्तासमवायो वा इति तार्किकमतम् आशङ्कते—**अथेति**। तन्मतेनापि कार्यस्य सत्त्वम् आवश्यकम् असतः सम्बन्धित्वायोगाद् इत्याह—**कथमिति**। असतोर्वा इति दृष्टान्तोक्तिः। ननु नरशृङ्गादिवत् कार्यं सर्वदा सर्वत्र असत् न भवति, किन्तु उत्पत्तेः प्राग्

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादि। घटकी उत्पत्तिके समान कपाल आदिकी भी उत्पत्ति है, ऐसा अतिदेश करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। शंकाका अनुवाद कर दोष कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। आशय यह कि अनुभव विरोध है। उत्पत्ति—कारणका प्रथम विकार, इस प्रकार अपने मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्यसत्ता कही गई, अब कार्यकी उत्पत्तिका अर्थ अपने कारणमें अपना समवाय है अथवा अपनेमें सत्तासमवाय है? इस प्रकार तार्किक मतसे शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। तार्किकोंके मतसे भी कार्यकी सत्ता आवश्यक है, क्योंकि असत्का संबन्ध नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'असतोर्वा' यह दृष्टान्तके लिए कहा गया है। नरशृंग आदिके समान कार्य सर्वदा सर्वत्र असत् नहीं होता है, किन्तु उत्पत्तिके

भाष्य

त्मकं सम्बध्येतेति वक्तव्यम्। सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति न सदसतो-रसतोर्वा। अभावस्य च निरुपाख्यत्वात् प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्, सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य। नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशेष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत् तत इदमप्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु

भाष्यका अनुवाद

कैसे संबद्ध होगा, यह कहना चाहिए, क्योंकि दो विद्यमान पदार्थोंमें संबन्ध होता है, विद्यमान और अविद्यमान या दो अविद्यमानोंमें नहीं होता। और अभावके असत् होनेसे, उत्पत्तिके पूर्व ऐसी अवधि करना युक्त नहीं है, क्योंकि लोकमें विद्यमान क्षेत्र, गृह आदिकी मर्यादा देखी जाती है, अभावकी नहीं देखी जाती। पूर्णवर्माके अभिषेकके पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा था, इस प्रकारकी मर्यादा करनेसे असत् वन्ध्यापुत्र राजा था, है या होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि वन्ध्यापुत्र भी कारकके व्यापारके अनन्तर उत्पन्न होता, तो असत् कार्य भी कारकके व्यापारके अनन्तर होता है, यह कथन भी उपपन्न होता। हम तो ऐसा

रत्नप्रभा

ध्वंसानन्तरं च असत् मध्ये तु सदेव इति वैषम्यात् सम्बन्धित्वोपपत्तिः इत्याशङ्क्य आह—**अभावस्येति**। अत्र अभावशब्दा असच्छब्दापरपर्याया व्याख्येयाः। असतः कालेन असम्बन्धात् प्राक्त्वं न युक्तमित्यर्थः। ननु कारकव्यापाराद् ऊर्ध्वभाविनः कार्यस्य वन्ध्यापुत्रतुल्यत्वं कथम् इत्यत आह—**यदि चेति**। कार्याभावः असत्कार्यमित्यर्थः, इति उपापत्स्यत—उपपन्नमभविष्यद् इत्यन्वयः। कः तर्हि

रत्नप्रभाका अनुवाद

पहले और नाशके अनन्तर असत् रहता है, मध्यमें तो सत् ही होता है, इस प्रकार अत्यन्त असत् पदार्थसे कार्यमें विषमता है, इसलिए संबन्धित्व उपपन्न होता है, ऐसी आशंका कर कहते हैं—"अभावस्य" इत्यादि। इस प्रकरणमें कथित अभावशब्दको असत्शब्दका पर्याय समझना चाहिए। असत्का कालसे सबन्ध नहीं रहता, इसलिए उसका प्राथम्य और आनन्तर्य कहना ठीक नहीं है, यह आशय है। कारक व्यापारके अनन्तर होनेवाला कार्य वंध्यापुत्र-सदृश कैसे है? इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादि। कार्याभाव—असत्कार्य। 'इति उपापत्स्यत' (ऐसा उपपन्न होता) ऐसा अन्वय समझना चाहिए। तब क्या निर्णय है? इस-

भाष्य

पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति। नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात् कारणस्य स्वरूपसिद्धये न कश्चिद् व्याप्रियते, एवं प्राक्सिद्धत्वात् तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपप्रसिद्धयेऽपि न कश्चिद् व्याप्रियेत, व्याप्रियते च, अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति चेत्। नैष दोषः। यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः

भाष्यका अनुवाद

देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र और कार्याभाव दोनों अभाव हैं, इसलिए जैसे कारकके व्यापारके अनन्तर बन्ध्यापुत्र नहीं होता, वैसे कार्याभाव भी कारकके व्यापारके अनन्तर नहीं होगा। परन्तु ऐसी परिस्थितिमें तो कारकके व्यापार निरर्थक हो जायंगे। जैसे पूर्वमें सिद्ध होनेसे कारणस्वरूप की सिद्धिके लिए कोई व्यापार नहीं करता, वैसे ही कार्यके भी पूर्वमें सिद्ध होने और उससे अनन्य होनेसे उसके स्वरूपकी सिद्धिके लिए भी कोई व्यापार न करेगा। परन्तु व्यापार तो करता है, इससे कारणका व्यापार सप्रयोजन होनेके लिए उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अभाव है, ऐसा हम मानते हैं। यह दोष नहीं है, क्योंकि कार्य स्वरूपसे

रत्नप्रभा

निर्णयः तत्राह—**वयं त्विति।** "नासतो विद्यते भावः" (भ० गी० २।१६) इति स्मृतेः इति भावः। सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं शङ्कते—**नन्विति।** सिद्धकारणानन्यत्वाच्च कार्यस्य सिद्धत्वम् इत्याह—**तदनन्यत्वाच्चेति।** अनिर्वाच्यकार्यात्मना कारणस्य अभिव्यक्त्यर्थः कारकव्यापार इत्याह—**नैष दोष इति।** कार्यसत्यत्वम् इच्छतां सांख्यानां सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं दोष आपतति अभिव्यक्तेः अपि सत्त्वात्, अद्वैतवादिनां तु अघटितघटनावभासनचतुरमाया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पर कहते हैं—"वयं तु" इत्यादि। 'नासतो विद्यते०' (असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है) ऐसी स्मृति है, इसलिए, यह भाव है। सत्कार्यवादमें कारकवैयर्थ्यकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सिद्ध कारणसे अभिन्न होनेसे कार्य सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"तदनन्यत्वाच्च" इत्यादिसे। अनिर्वाच्य कार्यरूपसे कारणकी अभिव्यक्तिके लिए कारकव्यापार है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः' इत्यादिसे। कार्यको सत्य माननेवाले सांख्यके मतमें सत्कार्यवादमें कारकवैयर्थ्य होता है, क्योंकि अभिव्यक्ति भी सत् है, अद्वैतवादियोंके मतमें तो अघटितकी घटनाकर उसका

भाष्य

कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते। कार्याकारोऽपि कारणस्याऽऽत्मभूत एवा-नात्मभूतस्याऽनारभ्यत्वादित्यभाणि। न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा

भाष्यका अनुवाद

कारणकी व्यवस्था करनेवालेको कारकव्यापार सप्रयोजन है, ऐसी उपपत्ति होगी। कार्यका स्वरूप भी कारणका आत्मभूत ही है, क्योंकि जो अनात्म-भूत है वह अनारभ्य है, ऐसा कहा है। और वस्तु विशेष दर्शनमात्रसे अन्य नहीं हो जाती। हाथ-पैरोंको सिकोड़े हुए और हाथ-पैरोंको फैलाये हुए देवदत्तमें यद्यपि कुछ विशेषता दीखती है, तथापि वास्तवमें कुछ भेद नहीं है, क्योंकि वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार प्रति-

रत्नप्रभा

महिम्ना स्वप्नवद् यथादर्शनं सर्वमुपपन्नम्। विचार्यमाणे सर्वमयुक्तम्, युक्तत्वे द्वैतापत्तिरिति मुख्यं समाधानम् समाधानान्तराभावात्। ननु कारणाद् भिन्नम् असदेव उत्पद्यते इति समाधानं किं न स्याद् इति आशङ्कय असत्पक्षस्य दूषणमुक्तं स्मर इत्याह—कार्याकारोऽपीति। अतः कारणाद् भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपस्य सदसद्विलक्षणस्य अनिर्वाच्याभिव्यक्तिः अनि-र्वाच्यकारकव्यापाराणां फलमिति पक्ष एव श्रेयान् इति भावः। ननु मृदि अदृष्टः पृथुबुध्नत्वाद्यवस्थाविशेषो घटे दृश्यते, तथा च घटो मृद्भिन्नः तद्विरुद्ध-विशेषवत्त्वाद् वृक्षवद् इत्यत आह—न चेति। वस्तुनोऽन्यत्वं सत्यो भेदः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवभास करानेमें चतुर मायाकी महिमासे स्वप्नके समान जो कुछ दिखता है, वह सब उपपन्न होता है। परन्तु कुछ विचार करनेपर वह सब अयुक्त ठहर जाता है, क्योंकि यदि वह युक्त हो, तो द्वैतकी आपत्ति होगी, यहाँ यही मुख्य समाधान है, क्योंकि इसकी अपेक्षा अच्छा समाधान दूसरा नहीं है। परन्तु कारणसे भिन्न असत् ही उत्पन्न होता है यह समाधान क्या नहीं है? ऐसी आशंका कर असत्पक्षमें जो दूषण कहा गया है, उसका स्मरण करो, ऐसा कहते हैं—"कार्याकारोऽपि" इत्यादिसे। इसलिए कारणसे भिन्न है या अभिन्न है, ऐसा निरूपण करनेके अयोग्य सत् और असत्से विलक्षण कार्यकी अनिर्वाच्य अभिव्यक्ति ही अनिर्वाच्य कारकव्यापारोंका फल है, यह पक्ष ही श्रेयस्कर है, ऐसा अर्थ है। मृत्तिकामें न दिखाई देने वाला पृथुबुध्नत्व आदि अवस्थाविशेष घटमें दिखाई देता है, अतः घट मृत्तिकासे भिन्न है, मृत्तिकासे विरुद्ध आकारविशेषवाला होनेसे, वृक्षके समान, ऐसा अनुमान होता है, इसपर कहते

भाष्य

प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात्। जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात् तत्र युक्तं नाऽन्यत्रेति चेत् न, क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानाम-

भाष्यका अनुवाद

दिन आकृतियोंमें भेद आनेपर भी पिता आदि अन्य नहीं हो जाते, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता, मेरा पुत्र ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जन्म और उच्छेदका व्यवधान नहीं है इससे वहां यह युक्त है, अन्यत्र नहीं, ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि दूध आदि दही आदिके आकारमें हैं, ऐसा प्रत्यक्ष है। वटके बीज आदि जो अदृश्यमान हैं, वे भी अन्य समानजातीय अवयवोंसे वृद्धि

रत्नप्रभा

हेतोः व्यभिचारस्थलान्तरमाह—**तथा प्रतिदिनमिति**। प्रत्यहं पित्रादिदेहस्य अवस्थाभेदेऽपि जन्मनाशयोः अभावाद् अभेदो युक्तः, दार्ष्टान्तिके तु मृदादिनाशे सति घटादिकं जायते इति जन्मविनाशरूपविरुद्धधर्मवत्त्वात् कार्यकारणयोः अभेदो न युक्त इति शङ्कते—**जन्मेति**। कारणस्य नाशाभावाद् हेत्वसिद्धिः इति परिहरति—**नेति**। दधिघटादिकार्यान्वितत्वेन क्षीरमृदादीनां प्रत्यक्षत्वात् नाशासिद्धिः इत्यर्थः। ननु यत्र अन्वयो दृश्यते तत्र हेत्वसिद्धौ अपि यत्र अङ्कुरादौ वटबीजादीनाम् अन्वयो न दृश्यते तत्र हेतुसत्त्वाद् वस्त्वन्यत्वं स्याद् इत्यत आह—**अदृश्येति**। तत्रापि अङ्कुरादौ बीजाद्यवयवानाम् अन्वयात् न स्त एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"न च" इत्यादि। वस्तुका अन्यत्व—सत्य भेद। हेतुका अन्य व्यभिचारस्थल कहते हैं—"तथा प्रतिदिनम्" इत्यादिसे। प्रतिदिन पिता आदिके देहमें अवस्था भेद होता है, तो भी देहके जन्म और नाश प्रतिदिन नहीं होते हैं, इसलिए देहका अभेद कहना युक्त है। दार्ष्टान्तिकमें तो मृत्तिका आदिका नाश होनेपर घट आदि उत्पन्न होता है, इस प्रकार जन्म और नाशरूप विरुद्ध धर्म होनेसे कार्य और कारणमें अभेद कहना युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। कारणका नाश नहीं होता है, इसलिए हेतु असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि दधि, घट आदि कार्योंमें अनुगत होनेसे क्षीर, मृत्तिका आदिका प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उनका नाश होना असिद्ध है। यदि कोई कहे कि जहाँ अनुवृत्ति देखी जाती है, वहां हेतु असिद्ध होनेपर भी जहाँ अंकुर आदिमें वटबीज आदिकी अनुवृत्ति नहीं देखी जाती है, वहां हेतु होनेसे वस्तुभेद हो, इसपर कहते हैं—

भाष्य

ङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा, तेषामेवाऽवयवानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिः सतश्चासत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। यस्य तु पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्, अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहनन-

भाष्यका अनुवाद

पाकर अंकुरादि भावोंसे दृष्टिगोचर होते हैं, तब उनकी जन्मसंज्ञा होती है और वे ही अवयव क्षय हो जानेसे जब अदर्शनता प्राप्त करते हैं, तब उनकी उच्छेद-संज्ञा होती है। उनमें ऐसे जन्म और उच्छेदका व्यवधान होनेसे असत् सत् हो और सत् असत् हो, तो ऐसा होनेसे गर्भमें रहनेवाले और उतान होकर सोनेवाले इन दोनोंमें भेद होगा। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और स्थाविरमें भेदका प्रसंग हो जायगा। इसी प्रकार पिता आदि व्यवहार लुप्त हो जायँगे। इससे क्षण-भंगवादका प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए। परन्तु जिसके मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्य अविद्यमान हैं, उसके मतमें आकाशको मारनेके लिये खड्गादि अनेक

रत्नप्रभा

जन्मविनाशौ, किन्तु अवयवान्तरोपचयापचयाभ्यां तद्व्यवहार इत्यर्थः। अस्तु उपचयापचयलिङ्गेन वस्तुभेदानुमानम्, ततोऽसत उत्पतिः, सतो नाश इति आशङ्क्य व्यभिचारमाह—**तत्रेदृगिति**। पितृदेहेऽपि भेदसत्त्वात् न व्यभिचार इत्यत्र बाधकमाह—**पित्रादीति**। **एतेनेति**। कारणस्य सर्वकार्येषु अन्वयकथनेन इत्यर्थः। स्वपक्षे दोषं परिहृत्य परपक्षे प्रसञ्जयति—**यस्य तु पुनरिति**। असतः कार्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अदृश्य" इत्यादिसे। वहां अंकुर आदिमें भी बीज आदिके अवयवोंकी अनुवृत्ति होनेसे कारणके जन्म और नाश नहीं होते हैं, किन्तु अन्य अवयवोंकी वृद्धि और क्षयसे जन्म और नाशका व्यवहार होता है, यह अर्थ है। वृद्धि और क्षय रूप हेतुसे वस्तुभेदका अनुमान हो, इससे जगत्की उत्पत्ति एवं सत्का नाश सिद्ध होते हैं, ऐसी आशंका कर व्यभिचार कहते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। पितृदेहमें भी भेद है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, इस विषयमें बाधक कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। एतेन—सब कार्योंमें कारणकी अनुवृत्तिके कथनसे। अपने मतमें दोषका परिहार करके अन्य मतमें दोषका आपादन करते हैं—"यस्य तु पुनः" इत्यादिसे। परन्तु असत् कार्य कारकव्यापारसे उत्पाद्यमान विशेषका

भाष्य

प्रयोजनखड्गधनेकायुधप्रयुक्तिवत् । समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्, न; अन्यविषयेण कारकव्यापारेणाऽन्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात् समवायिकारणस्यैवाऽऽत्मातिशयः कार्यमिति चेत्, न; सत्कार्यतापत्तेः। तस्मात् क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनाऽवतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत् कार्यं वर्षशतेनाऽपि शक्यं कल्पयितुम् । तथा मूलकारणमेवाऽन्त्यात् कार्यात् तेन तेन कार्याकारेण नटवत् सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते । एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च

भाष्यका अनुवाद

आयुधोंके समान कारक व्यापार निर्विषय हो जायगा, क्योंकि अभाव विषय नहीं हो सकता । कारक व्यापारका विषय समवायी कारण होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते । अन्य विषयकारक व्यापारसे अन्यकी निष्पत्ति हो, तो अति प्रसंग होगा । कार्य समवायी कारणका ही अतिशय है, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्कार्यवाद सिद्ध हो जायगा । इसलिए दूध आदि पदार्थ दधि आदिके स्वरूपसे रहते हुए कार्यकी संज्ञा प्राप्त करते हैं । कारणसे कार्यको सौ वर्षमें भी अन्य करना शक्य नहीं है । उसी प्रकार मूल कारण ही अन्त्यकार्यपर्यन्त उस कार्यके आकारसे नटके समान सब व्यवहारका आश्रय होता है । इस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व कार्यका सत्त्व और

रत्नप्रभा

कारकव्यापाराऽऽहितातिशयाश्रयत्वायोगाद् अविषयत्वेऽपि मृदादेर्विषयत्वं स्याद् इति शङ्कते—समवायीति । समवायिकारणात् कार्यं भिन्नमभिन्नं वा इति विकल्प्य आद्यं निरस्यति—नेत्यादिना । द्वितीयम् आशङ्क्य इष्टापत्तिमाह—समवायीति । कार्याणाम् अवान्तरकारणानन्यत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । परमकारणानन्यत्वं फलितमाह— तथा मूलेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आश्रय न होनेसे उसका विषय न होनेपर भी मृत्तिका आदि उसके विषय हो सकते हैं, ऐसी शंका करते हैं—"समवायि" इत्यादिसे । समवायिकारणसे कार्य भिन्न है अथवा अभिन्न है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—"न" इत्यादिसे । द्वितीय पक्षकी आशंकाकर उसमें इष्टापत्ति कहते हैं—"समवायि" इत्यादिसे । कार्य अवान्तर कारणोंसे अभिन्न है, इस सिद्धान्तका उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । परम कारण ब्रह्मसे अभेदरूप फलित कहते हैं—"तथा मूल" इत्यादिसे ।

भाष्य

कारणादवगम्यते। शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात् ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति चाऽसत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०६।२।१) इत्यवधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात् सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात् पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात् तदान्यत् कारणात् स्यात्,। तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा०६।१।३) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत। सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते॥ १८॥

भाष्यका अनुवाद

कारणसे अनन्यत्व युक्तिसे समझा जाता है और अन्य शब्दसे भी यह समझा जाता है। पूर्व सूत्रमें असत्का व्यपदेश करनेवाला शब्द कहा गया है, इससे अन्य अर्थात् जिनमें सत्का व्यपदेश है, वे अन्य शब्द हैं—"सदेव सोम्येदमग्र०" (हे सोम्य, पूर्वमें यह सत्स्वरूप एक अद्वितीय था) इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदम०' (कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वमें यह असत्स्वरूप ही था) इस प्रकार असत्पक्षका उपक्षेप करके 'कथमसतः०' (असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो) ऐसा आक्षेप करके 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, पूर्वमें यह सत्स्वरूप ही था) ऐसा श्रुति निर्णय करती है। उसमें इदम् शब्दका वाच्य जो कार्य है, उसका उत्पत्तिके पूर्व सत्शब्दवाच्य कारणके साथ सामानाधिकरण्य श्रुतिमें कहा गया है, उससे सत्त्व और कारणाभेद स्पष्टतया सिद्ध होते हैं। यदि उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् हो और पीछेसे उत्पन्न होकर कारणमें समवेत हो, तो कारणसे अन्य हो। ऐसा होनेसे 'येनाश्रुतं०' (जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है) इस प्रतिज्ञाका बाध हो जायगा। सत्त्व और अभेदकी अवगतिसे तो इस प्रतिज्ञाका समर्थन होता है॥ १८॥

रत्नप्रभा

असत्कार्यवादे प्रतिज्ञाबाधः स्याद् इत्याह—यदि तु प्रागुत्पत्तेरिति॥१८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

असत्कार्यवादमें प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी, ऐसा कहते हैं—"यदि तु प्रागुत्पत्तेः" इत्यादिसे॥ १८॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

पदच्छेद—पटवत्, च ।

पदार्थोक्ति—पटवच्च—तथा संवेष्टितप्रसारितपटस्य विलक्षणप्रतीतिविषयत्वेऽपि न भेदस्तथा मृद्घटयोरपि ।

भाषार्थ—जैसे लपेटे हुए और फैलाये हुए एक ही वस्त्रमें तत्तत् समयोंमें विलक्षणता प्रतीत होनेपर भी वस्त्रमें कोई भेद नहीं आता, उसी प्रकार मृत्तिका और घटमें भी भेद नहीं है ।

भाष्य

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते किमयं पटः किं वाऽन्यद् द्रव्यमिति, स एव प्रसारितो यत् संवेष्टितं द्रव्यं तत् पट एवेति प्रसारणेनाऽभिव्यक्तो गृह्यते । यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति । एवं तन्त्वादिकारणावस्थं

भाष्यका अनुवाद

जैसे लपेटे हुए वस्त्रका ठीक ठीक परिज्ञान नहीं होता कि यह वस्त्र है या कोई अन्य पदार्थ है । उसको फैला देनेके बाद यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि लपेटी हुई वस्तु वस्त्र ही है । और जिस प्रकार संवेष्टनके समय वस्त्र रूपसे प्रतीत होनेपर भी विशिष्ट लम्बाई और चौड़ाईके ज्ञानपूर्वक उसकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार प्रसारण समयमें विशिष्ट लम्बाई और चौड़ाईकी प्रतीति होती है और संवेष्टित वस्त्रसे भिन्न यह दूसरा वस्त्र है, ऐसी प्रतीति नहीं होती है ।

रत्नप्रभा

कार्यम् उपादानाद् भिन्न तदुपलब्धौ अपि अनुपलभ्यमानत्वात् ततोऽधिकपरिमाणत्वाच्च मशकादिव शशक इत्यत्र व्यभिचारार्थं सूत्रम्—**पटवच्चेति** । द्वितीयहेतोः व्यभिचारं स्फुटयति—**यथा च संवेष्टनेति** । आयामः—दैर्घ्यम् ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्य उपादान कारणसे भिन्न है, क्योंकि कारणकी उपलब्धि होनेपर भी कार्य उपलब्ध नहीं होता है और कारणकी अपेक्षा अधिक परिणामवाला है, मशकसे भिन्न शशके समान, इस अनुमानके व्यभिचार दिखलानेके लिए "पटवच्च" सूत्र है । "यथा च संवेष्टन" इत्यादिसे द्वितीय हेतुमें व्यभिचार स्पष्ट करते हैं । आयाम—दीर्घता ॥ १९ ॥

भाष्य

पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवाऽनन्यत् कारणात् कार्य-मित्यर्थः ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

उसी प्रकार तन्तु आदि कारण रूपसे स्थित पट आदि कार्य होकर तुरी, वेम, कुविन्द आदि कारक व्यापार आदिसे व्यक्त होकर स्पष्ट गृहीत होता है। इसलिए संवेष्टित और प्रसारित पटके न्यायसे ही कारण कार्यसे अनन्य है, ऐसा अर्थ है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

पदच्छेद—यथा, च, प्राणादिः।

पदार्थोक्ति—यथा च प्राणादिः—यथा च प्राणायामादिना निरुद्धः प्राणापानादिः जीवनमात्रं कार्यं निष्पादयति, अनिरुद्धस्त्वाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यं निर्वर्तयति, नैतावता प्राणादेर्भेदोऽस्ति, तद्वत् कार्यभेदेऽपि कारणैक्ये न विरोधः।

भाषार्थ—जैसे प्राणायाम आदिसे निरुद्ध प्राण अपान आदि केवल जीवन रूप कार्यको संपन्न करते हैं, अनिरुद्ध होकर वे ही प्राणादि आकुञ्चन, प्रसारण आदि कार्यको भी संपन्न करते हैं, परन्तु प्राण आदिमें भेद नहीं है। इसी प्रकार कार्य-में भेद होनेपर भी कारणकी एकतामें कोई विरोध नहीं है।

भाष्य

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारण-मात्ररूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसाणादिकं कार्यान्तरम्। तेष्वेव प्राणभेदेषु प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादि-कमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते। न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वम्,

भाष्यका अनुवाद

और जैसे लोकमें प्राण, अपान आदि प्राणभेदोंके प्राणायाम द्वारा निरुद्ध होनेपर और कारणमात्र रूपसे रहनेपर जीवनमात्र कार्य होता है, आकुञ्चन, प्रसारण आदि अन्य कार्य नहीं होते परन्तु वे ही प्राणभेद फिर प्रवृत्त होते हैं, उनके प्रवृत्त होनेके बाद जीवनसे अधिक आकुंचन, प्रसारण आदि अन्य कार्य

भाष्य

समीरणस्वभावाविशेषात् । एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम् । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

भी होते हैं और कार्य भेदविशिष्ट प्राणसे प्राणभेद अन्य नहीं हैं, क्योंकि पवनस्वभाव सबमें तुल्य है। इसी प्रकार कार्य कारणसे अनन्य है। इसलिए सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मकार्य होनेसे और उससे अनन्य होनेसे 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति, (जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और अज्ञात ज्ञात हो जाता है) यह श्रुतिप्रतिज्ञा सिद्ध होती है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

तत्रैव विलक्षणकार्यकारित्वं हेतुम् आशङ्क्य व्यभिचारमाह—यथा च प्राणादिरिति । एवं जीवजगतोः ब्रह्मानन्यत्वात् प्रतिज्ञासिद्धिः इत्यधिकरणार्थम् उपसंहरति—अतश्च कृत्स्नस्येति ॥२०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसी अनुमानमें विलक्षणकार्यकारित्व हेतु है, ऐसी आशंका कर सूत्रकार व्यभिचार कहते हैं,—"यथा च प्राणादिः" इत्यादिसे। इस प्रकार जीव और जगत् ब्रह्माभिन्न होनेसे प्रतिज्ञा सिद्ध है, ऐसा अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतश्च कृत्स्नस्य" इत्यादिसे ॥२०॥
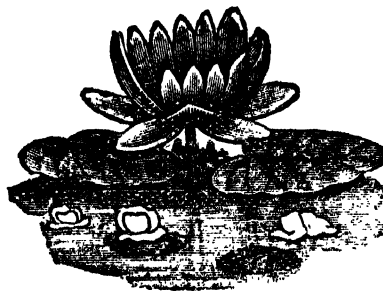
अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.